UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182110

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82/G72Bh Accession No. G.H. 533

Author गोविन्ददास।

Title भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु।

This book should be returned on or before the date last marked below.

भिक्षु से गृहस्थ
और
गृहस्थ से भिक्षु

(पाँच अंकों का एक ऐतिहासिक नाटक)

गोविन्ददास

१९५७
भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा — दिल्ली

एस. चंद एण्ड कम्पनी

आसफअली रोड	नई दिल्ली
फव्वारा	दिल्ली
माईहीरां	जालन्धर
लालबाग	लखनऊ

मूल्य
२)

गौरीशंकर शर्मा, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित एवं
श्यामकुमार गर्ग, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली, द्वारा मुद्रित।

निवेदन

भारतीय इतिहास में भारत का संसार के अनेक देशों के साथ बहुत प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध का भारत को गर्व है और वह विशेषकर इसलिए कि भारत ने किसी भी देश पर राजनैतिक प्रभुता स्थापित करने का कभी भी कोई प्रयत्न नहीं किया। भारत से बाहर जाकर अन्य देशों में यदि भरतीय बसे तो भी उन्होंने उन देशों के मूल निवासियों को मिटाने की कोई कोशिश नहीं की।

भारत का भिन्न-भिन्न देशों से यह सम्बन्ध अधिकतर सांस्कृतिक सम्बन्ध रहा है और यह बढ़ा उस काल में जब बौद्ध मत का प्रचार हुआ।

सन् ३५० ईस्वी के लगभग की इसी प्रकार की एक ऐतिहासिक कथा है।

कुमारायन नामक भारत का एक छोटे से राज्य का मंत्री पुत्र युवावस्था में ही अपना सारा वैभव छोड़ बौद्ध भिक्षु हो गया। (इस राज्य के भौगोलिक स्थान का अब पता नहीं लगता।) कुमारायन महान् विद्वान् था। भिक्षु होकर बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए देश-देशान्तरों में घूमता हुआ वह भारत के उत्तर में कूची (वर्त्तमान कूचा) नामक राज्य में पहुँचा। वह राज्य भारतीय संस्कृति का एक केन्द्र था, यहाँ तक कि इस राज्य के पुराने

शासकों के नाम भी 'स्वर्णपुष्य', 'हरिपुष्य', 'स्वर्णदेव', 'हरदेव' के सदृश भारतीय नाम होते थे। कूची उस समय बड़ा वैभवशाली उन्नत नगर था। बौद्ध विहारों, संघारामों के वहाँ बड़े-बड़े विशाल भवन थे और वहाँ के प्रायः सभी निवासी बौद्ध मतावलम्बी थे। कूची में जो पुराना साहित्य मिला है, उससे पता लगता है कि कूची भारतीय संस्कृति का कितना बड़ा केन्द्र था और कूची में संस्कृत देववाणी मानकर किस प्रकार पढ़ायी जाती थी। वहाँ संस्कृत, व्याकरण 'कातंत्र' पद्धति से पढ़ाया जाता था, क्योंकि यह पद्धति पाणिनि की पद्धति की अपेक्षा अभारतीयों के लिए कदाचित् अधिक सुगम थी। वहाँ के विद्यार्थी संस्कृत का कूचीन भाषा में अनुवाद करते थे। 'उदान वर्ग' के सदृश प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ तथा ज्योतिष और आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों का कूचीन भाषा में अनुवाद हुआ था।

कुमारायन अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य के कारण कूची नरेश द्वारा राजगुरु बनाया गया। उसने वहाँ 'गोमती विहार' नामक एक बौद्ध विहार स्थापित किया जिसका आगे चलकर एक कारण से बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व हो गया। नागार्जुन-कृत 'प्रज्ञा पारमिता सूत्र' नामक ग्रन्थ की सातवी शताब्दी में लिखी हुई चीनी भाषा में एक मुद्रित पुस्तक इस विहार में मिली, जो संसार की प्रथम मुद्रित पुस्तक मानी जाती है।

कुमारायन के कूची पहुँचने के पश्चात् उसके जीवन से संबंध रखने वाली एक विलक्षण घटना घटित हुई। कूची नरेश की जीवा नामक कन्या थी। जीवा का कुमारायन पर प्रेम होगया

और कुमारायन और जीवा का विवाह हुआ। कुमारायन और जीवा के कुमारजीव नामक पुत्र हुआ। जब कुमारजीव नौ वर्ष का हो गया तब जीवा भिक्षुणी होकर कुमारजीव को उच्च शिक्षा के लिए काश्मीर लायी। उस समय काश्मीर और संस्कृत भाषा विशेषकर बौद्ध साहित्य और बौद्ध दर्शन की शिक्षा के लिए केवल भारत ही नहीं समस्त संसार में प्रसिद्ध था। कुमारजीव को काश्मीर में बन्धुदत्त नामक शिक्षक ने अनेक विषयों में पारंगत किया। इनमें बौद्ध धर्म के 'दीघ' और 'मज्झम' निकाय प्रमुख थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर कुमारजीव अनेक देशों में होता हुआ पुनः कूची गया। सन् ३८३ ई० में चीन और कूची के बीच एक युद्ध हुआ जिसमें कूची की हार हुई और चूँकि उन दिनों हारे हुए देशों से सौगात के रूप में विद्वान् भी लिये जाते थे इसलिए कुमारजीव चीन देश में आया। चीन देश उस समय अनेक राज्यों में बटा हुआ था, पर इनमें से अधिकांश राज्य चीनी सम्राट के आधिपत्य में थे। चीन के कनसू राज्य के अधिपति कुत्संग के पास अनेक वर्ष कुमारजीव रहा। कुमारजीव इतना बड़ा विद्वान् था कि चीनी सम्राट याओहिन ने बार-बार उसे चीन की राजधानी में आमंत्रित किया। सन् ४०७ ई० में कुमारजीव चीनी राजधानी को आया। उस बीच काश्मीर में पढ़े हुए अनेक विद्वान् चीन में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए पहुँचे थे। पाँचवीं और छठवीं शताब्दी के बीच अकेले काश्मीर से इन विद्वानों की जितनी संख्या चीन गयी थी वह भारतवर्ष के अन्य समस्त भागों से गये हुए विद्वानों की संख्या से अधिक थी। इन

काश्मीरी विद्वानों में संगभूति, गौतम संघदेव, पुण्यत्राता विमलाक्ष, बुद्धजीव, धर्ममित्र, धर्मयश नामक विद्वानों के नाम उल्लेखनीय हैं; परन्तु, इन सबमें कुमारजीव श्रेष्ठ माना जाता है। कुमारजीव संस्कृत और चीनी दोनों भाषाओं का दिग्गज विद्वान् था और कुमारजीव ने बौद्ध-धर्म के महायान मार्ग के दार्शनिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में सुन्दर अनुवाद किया है। इन ग्रन्थों की संख्या सौ से भी ऊपर है। माना जाता है कि कुमारजीव के अनुवाद उसके पूर्व किये हुए समस्त विद्वानों के अनुवादों से श्रेष्ठ हैं। कुमारजीव के इस अनुवाद के कार्य में जिन्होंने सहायता की उन में दो भारतीय प्रधान थे। इनके नाम है—बुद्धभद्र और पुण्यत्राता। फिर कुमारजीव की देख-रेख में कोई ८०० चीनी बौद्ध-भिक्षुओं ने भी अनुवाद का काम किया और इनके द्वारा कोई तीन सौ ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। कुमारजीव की विद्वत्ता के कारण चीन देश के भिन्न-भिन्न भूखण्डों के लोग सहस्रों की संख्या में कुमारजीव के शिष्य हुए। इतिहास-प्रसिद्ध भारत-यात्री फाहियान कुमारजीव का एक प्रमुख शिष्य था और वह भारत कुमारजीव की प्रेरणा से ही आया था। फाहियान जब भारत से लौटा उस समय तक कुमारजीव जीवित था। कुमारजीव 'माध्यमिक' मार्ग का प्रणेता और 'सत्यसिद्धि' तथा 'निर्वाण' संप्रदायों का आदिगुरु माना जाता है। कुमारजीव की जीवनविषयक सामग्री दो चीनी ग्रन्थों में मिलती है। इनके नाम हैं—'काओ-सेंग-पोंग' और 'चू-सांग-संग-की-सी'। इनमें से प्रथम ग्रन्थ की रचना सन् ५१९ ई० और दूसरे की रचना सन् ५२० ई० में हुई थी।

यह नाटक कुमारायन जीवा और कुमारजीव की उपर्युक्त कथा पर लिखा गया है। इस नाटक के सभी पात्र ऐतिहासिक हैं, पर कुछ के ऐतिहासिक नाम न मिलने के कारण उनके ऐतिहासिक होते हुए भी उनके नाम काल्पनिक रखे गये हे। परन्तु, इस बात का ध्यान रखा गया है कि नाम उस काल के नामों के अनुरूप ही हों।

ऐतिहासिक नाटकों, उपन्यासों और कहानियों के संबंध में मेरा जो मत है वह मैने अपने ऐतिहासिक 'हर्ष' नाटक की भूमिका में निम्नलिखित शब्दों मे व्यक्त किया है—

"मेरा मत है कि नाटक, उपन्यास या कहानी-लेखक को यह अधिकार नही है कि वह किसी भी पुरानी कथा को तोड़-मरोड़ कर उसे नयी कथा ही बनादे। हाँ, कथा का अर्थ (Interpretation) वह अवश्य अपने मतानुसार कर सकता है।"

इस नाटक की रचना भी उपर्युक्त मत के अनुसार हुई है।

इस नाटक में कई स्थानों पर लम्बे-लम्बे स्वगत-कथन आये है। इस प्रकार के स्वगत-कथनों के संबंध में अपने विचार मै अपने नाटक 'गरीबी या अमीरी' की भूमिका में व्यक्त कर चुका हूँ। 'गरीबी या अमीरी' नाटक कई जगह खेला भी गया है और दो स्थानों पर मैने उस नाटक का अभिनय स्वयं देखा। इस प्रकार के स्वगत-कथन उस नाटक में ज़रा भी अस्वाभाविक नहीं जान पड़ते। मेरा मत है कि ऐसे स्वगत-कथन सर्वथा स्वाभाविक रूप से रंगमंच पर कहे जा सकते है। मैने कुछ एकपात्री नाटक (Mono Drama) भी लिखे हैं। एकपात्री नाटक के तो

सारे कथन स्वगत-कथन ही होते है। मेरा 'शाप और वर' नाटक कई जगह सफलतापूर्वक खेला गया है। पश्चिमी नाटककारों में अनेक ने इस प्रकार के स्वगत-कथन लिखे है और एकपात्री नाटक भी। ऐसे आधुनिक नाटककारों में 'नोवल प्राइज़' प्राप्त अमरीका के यू० जी० ओ'नील प्रमुख हे।

मेरे अन्य अधिकांश नाटकों के सदृश इस नाटक के गीत भी मेरी पुत्री रत्नकुमारी ने लिखे है।

—गोविन्ददास

मुख्य पात्र, स्थान और समय

मुख्य पात्र : नाटक में प्रवेश के अनुसार

कुमारायन : भारत में एक राजमंत्री का पुत्र बाद में कूची के राज्य का राजगुरु

उत्पलवर्णा : सुगतभद्रकी पत्नी, कुमारायन की माता

सुगतभद्र : कुमारायन का पिता

जीवा : कूची राज्य की राजकुमारी

मैत्रेयनाथ : कूची का राजा

भद्रांगी : कूची की रानी

कुमारजीव : कुमारायन और जीवा का पुत्र

फाहियान : प्रसिद्ध भारत यात्री, कुमारजीव का शिष्य

स्थान

भारत में कुमारायन की जन्म-भूमि

कूची

चीन

समय

ईस्वी सन् ३५० के लगभग से ४१० ईस्वी तक

'भिक्षु से गृहस्थ और गृहस्थ से भिक्षु' नाटक में आये हुए कुछ प्राचीन शब्दों का अर्थ

पृष्ठ ५—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान = पंच स्कंद = बौद्धदर्शन में ये पांच स्कंद सृष्टि की रचना के वैसे ही तत्त्व माने जाते है जैसे आर्य दर्शन में पंचमहाभूत अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश।

उपक्रम

स्थान : सुगतभद्र के भवन में कुमारायन का कक्ष

समय : रात्रि

[कक्ष बौद्धकालीन स्थापत्यकला के अनुसार बना है। और बौद्धकालीन ढंग से सजा है। कक्ष के देखने से जान पड़ता है कि उस काल के किसी अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति के भवन का कक्ष है। कक्ष की तीन ओर की भित्तियाँ दिखायी देती हैं। ये पाषाण की हैं और इन पर चित्रकारी है। यह चित्रकारी अजन्ता की चित्रकारी से मिलती-जुलती है। दाहिनी और बाँयीं ओर की भित्तियों के सिरों पर एक-एक द्वार है, द्वार बहुत बड़े नहीं हैं। द्वारों पर चौखटों और किवाड़ों की लकड़ी पर खुदाव का काम है। कमरे की छत पर रंगीन बेल-बूटे हैं और धरती पर रंगीन बिछावन। इस बिछावन पर 'शयन' (एक प्रकार के सोफे) 'आसन्दियाँ' (एक प्रकार की कुर्सियाँ) और चौकियाँ (एक प्रकार की टेबिलें) रखी हैं। शयन और आसन्दियों पर गद्दी बिछी है तथा तकिये लगे हैं। कक्ष में गौतम बुद्ध की एक विशाल ताम्र मूर्ति रखी है। उस मूर्ति के सामने कुमारायन बैठा हुआ एक टक उस मूर्ति को देख रहा है। कुमारायन बाईस-तेईस वर्ष का गेहुँए वर्ण का अत्यन्त सुन्दर नवयुवक है। श्वेत रंग की धोती पहने है और एक श्वेत उत्तरीय ऊपर के अंग पर डाले है। उसके अंगों पर स्वर्ण के रत्न-

जटित भूषण भी हैं।]

कुमारायन : (मूर्त्ति को देखते हुए मूर्त्ति से ही) यह मानसिक संघर्ष...यह मानसिक संघर्ष, तथागत्, अब...अब तो चरम-सीमा को...पराकाष्ठा को पहुँच गया है। आठों पहर... चौसठों घड़ी चैन नहीं, पल मात्र को भी तो चैन नहीं। एक ओर...एक ओर, देव,...राज्य के मुख्य कर्मचारी के पीढ़ी दर पीढ़ी से प्राप्त, एक विशिष्ट परम्परा वाला वैभवशाली ...महान् वैभवशालो.. सुखमय...परम सुखमय जीवन है और दूसरी ओर ...हाँ, दूसरी ओर अकिञ्चन...दर-दर भटकाने वाला ... शीत ऋतु में कँपकँपाने वाली शीत, ग्रीष्म में झुलसाने वाली ताप, और वर्षा में सिर पर मूसलधार वर्षा को सहन कराने वाला कष्टप्रद...महान् कष्टप्रद भिक्षु का जीवन। परन्तु ...परन्तु, भगवन् आपके...आपके सामने भी तो इसी प्रकार...इसी प्रकार की समस्या उत्पन्न हुई थी।...मेरा... मेरा जीवन तो राज-कर्मचारी का जैसा वैभवशाली जीवन होता है वैसा जीवन है, पर...पर आपका...आपका जीवन तो राजकुमार का जीवन था, वह...वह तो राजा के जीवन के सदृश जीवन होने वाला था और...और आपने... आपने उस जीवन के विपरीत...ठीक विपरीत भिक्षु...भिक्षु का जीवन अपनाया। आपने...आपने, तथागत्, संसार को एक नया आलोक दिया ।...आपके ...आपके पश्चात् गत अनेक शताब्दियों में कितने...कितने जीवों को इस आलोक

से त्राण मिला, पहले...पहले भारतवर्ष में, फिर जम्बूद्वीप के अनेक देशों में, विशेषकर प्रियदर्शी अशोक के पश्चात्। परन्तु...परन्तु अभी भी इस विश्व का कितना...कितना भाग शेष है, जहाँ...जहाँ सद्धम्म और...और उस पर... उस पर अवलिम्बत भारतीय संस्कृति का संदेश पहुँचकर लोगों को त्राण...त्राण देना है। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखते रहने के पश्चात्)** तो...तो अनुसरण... अनुसरण करूँ आपका?...छोड़ूँ...छोड़ूँ इस...इस विलासी जीवन का मोह!...यह मोह...यह मोह, देव, कदाचित् स्वाभाविक...स्वाभाविक है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, पंचस्कंधों...इन स्कंधों...के बने हुए इस देह के लिए यह भौतिक आकर्षण अस्वाभाविक नहीं।...महा निष्क्रमण के पूर्व आपके मन में भी तो इन आधिभौतिक सुखों से मुख मोड़ने में संकल्प-विकल्प को उत्पत्ति हुई थी। पर...पर ज्यों ही आपने इस मोह से मुख मोड़ने का निर्णय किया...यह मोह आपको बन्धन में न रख सका। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखते रहने के पश्चात्)** मेरे लिए...मेरे लिए भी, कदाचित् निर्णय करने की ही देर है। तो...तो, तथागत्, निर्णय करता हूँ, आपके...आपके पद-चिह्नों पर चलने का। और...और ऐसा...ऐसा बल...शक्ति ...साहस दीजिए जिससे कभी भी...किसी भी परिस्थिति में पथ-भ्रष्ट न होऊँ।...संसार में काञ्चन तथा कामिनी ही सबसे अधिक आकर्षक हैं। इनमें से कोई भी मुझे विचलित

न कर सके।...जब मेरे निर्णय को सुनेंगे माता-पिता उनका इकलौता पुत्र होने के कारण उनकी जो दशा होगी, कल्पना ...कल्पना कर सकता हूँ उसकी, देव; पर...पर माता-पिता की वह दशा भी मुझे अब विमुख न कर सके अपने निर्णय से।

यवनिका

पहला अंक

स्थान : सुगतभद्र का कक्ष

समय : अपराह्न

[यह कक्ष और इसकी सजावट उपक्रम के कक्ष से मिलती-जुलती है। इसमें भी बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है। उत्पल-वर्णा गाती हुई इधर-उधर उद्विग्नता से घूम रही है। उत्पल-वर्णा की अवस्था लगभग ४५ वर्ष की है। वह गौर वर्ण की अत्यधिक सुन्दर प्रौढ़ा स्त्री है। साड़ी धारण किये हुए है और वक्षस्थल पर वस्त्र बँधा है। उसके अंगों पर रत्न-जटित स्वर्ण के आभूषण हैं।]

गीत

हे दया-द्रवित ! हे करुणागार !
प्रभु होगा उन्मुक्त तुम्हारी करुणा का कब द्वार?
उमड़ती मोहाकुल हिल्लोल
व्यथा का विष मानस में घोल,
मूर्च्छित ज्ञान, मान, गौरव की गरिमा का गुरु भार।
पिघलते तापित-उर उद्‌गार,
नयन से बहती नीरव धार,
अवलम्बन की निर्बलता में, खोज रही ममता आधार।

नियति का लख निष्ठुर अभिशाप,
ध्वनित सुन संकट की पद-चाप,
व्यथित, मथित अन्तरतम आकुल, प्रतिपल तुमको रहा पुकार।

[गीत पूर्ण होने पर उत्पलवर्णा भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख खड़ी हो जाती है। कुछ देर चुपचाप खड़ी-खड़ी उस प्रतिमा को देखती रहती है। फिर उस प्रतिमा से ही कहना आरम्भ करती है।]

उत्पलवर्णा : देव, आपने राजपाट, पुत्र-कलत्र सब कुछ...हाँ, सब कुछ छोड़ा था सुख के मार्ग का अनुसंधान...अनुसंधान करने। और...और उस पथ की खोज होने के पश्चात् आपने अपने किसी भी उपदेश में यह...यह नहीं कहा कि निर्वाण की प्राप्ति के लिए भिक्षुक...भिक्षुक होना ही एक मात्र मार्ग है, संसार के कल्याण के लिए भिक्षुक होना अनिवार्य...अनिवार्य है।) **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखने के पश्चात्)** तथागत, आपने...आपने राजपाट को तिलाञ्जलि...तिलाञ्जलि देने के पश्चात् भी राजाओं, उस काल के सम्पन्न व्यक्तियों को अधर्मी, पापी...हाँ, अधर्मी पापी नहीं माना। उनके...उनके राजपाट, धन-सम्पत्ति न छोड़ने पर भी उनसे...उनसे संपर्क...निकट का संपर्क रखा। यदि ऐसे लोगों को आप अधर्मी अथवा पापी मानते तो... तो क्या कभी भी आप उनसे कोई संबंध...किसी प्रकार का भी सम्बन्ध रखते ?) और...और, देव, यदि सभी...हाँ, सभी भिक्षु हो जायँ तो...तो यह संसार...सारा का सारा संसार

ही समाप्त हो जाय। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** एक बार...केवल एक बार मैं गर्भवती हुई, कैसी...कैसी भावनाओं से भरा रहता था उस समय मेरा यह मन, क्या-क्या...क्या-क्या सोचा करती थी उस समय...उस समय मैं संतान के संबंध में।...प्रसव-पीड़ा का काल शरीर को...शरीर को कष्टप्रद होने पर भी कितना...कितना आनन्द देने वाला था मेरे मानस को। और...और इस कुमारायन के जन्म के पश्चात् किस...किस प्रकार लालन-पालन किया मैंने इस पुत्र का। इसके पिता और मैं छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी अगणित...हाँ, तथागत, अगणित वस्तुओं का संग्रह किया करते थे इसके लिए; यह...यह सोचकर कि अमुक वस्तु इसके लिए इस प्रकार और अमुक वस्तु उस प्रकार उपयोगी होगी...उसे सुख पहुँचायेगी...उसे शांति देगी। और...देव, हम दोनों ही कल्पना किया करते थे अपनी पुत्रवधू के संबंध में...सोचा करते थे इस प्रकार की सुन्दर...इस प्रकार की शिष्ट...इस प्रकार की सभ्य पुत्रवधू लायेंगे...पौत्र, पौत्रियाँ...प्रपौत्र-प्रपौत्रियाँ भी हमारी कल्पना के परे नहीं थीं। इसके गृहस्थ-आश्रम...सारे गृहस्थ-आश्रम का चित्र...जीता-जागता चित्र हमारे सामने रहता...रहता क्या सदा नाचा करता था।... शिक्षित किया था इसे गृहस्थ नागरिक बनाने के लिए और ...और उसी...उसी शिक्षा ने दी इसे विरक्त भिक्षु बनने की प्रेरणा! **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के**

पश्चात्) क्या...क्या हो रहा है यह सब...यह सब, देव ? मेरी अस्थि, मांस, रुधिर से उत्पन्न मेरा यह इकलौता पुत्र आज...आज माता-पिता की समस्त भावनाओं को कुचल-कर, रौंदकर इस सम्पन्नता...समस्त सम्पन्नता...दुर्लभ सम्पन्नता को लात मार...इससे मुख मोड़ भिक्षु हो रहा है। ...कहता है यही मार्ग...एक मात्र मार्ग है संसार के कल्याण का, निज के निर्वाण का। फेरिए...फेरिए, तथागत, इसके... इसके मन को...पलटिए...पलटिए, देव, इसकी भावनाओं को।...अन्यथा...अन्यथा मैं ..मैं तो इसके बिना जीवित... क्षणमात्र भी जीवित न रह सकूँगी। **(प्रतिमा के चरण पकड़ उन पर सिर रख फूट-फूटकर रो पड़ती है।)**

[सुगतभद्र का प्रवेश। सुगतभद्र लगभग पचास वर्ष की अवस्था के कुछ साँवले रँग के ऊँचे-पूरे दुहरे शरीर के व्यक्ति हैं। श्वेत अधोवस्त्र पहने हैं और ऊपर के शरीर पर उत्तरीय है। उसके अंगों में भी स्वर्ण के रत्नजटित आभूषण हैं।]

सुगतभद्र : (पत्नी को ध्यान से देखते हुए) वही बिलख ! वही उद्विग्नता ! उसी प्रकार बार-बार आर्त्त-प्रार्थना !

उत्पलवर्णा : (पति का शब्द सुन उठकर उसकी ओर देखते हुए) अच्छा, तुम हो ?

सुगतभद्र : (पत्नी की लाल आँखें और गीले कपोलों को ध्यान से देखते हुए) दिन और रात वही अविरल अश्रुधार !

[उत्पलवर्णा कुछ न कह पति के निकट आ अपना सिर उसके कंधे पर टिका दीर्घ निःश्वास छोड़ती है।]

सुगतभद्र : (पत्नी के दोनों हाथ पकड़ एक शयन पर उसे बिठा स्वयं बैठते हुए) इस विह्वलता से क्या होगा ? यदि तुम अपनी दीर्घ निःश्वासों से विश्व का सारा वायुमण्डल भी भर दोगी, यदि अपनी इस अश्रुधारा से विश्व को बहा भी दोगी तो भी क्या होगा; क्या होगा इससे !

उत्पलवर्णा : क्या दीर्घ निःश्वास कुछ प्राप्त करने के लिए निकलती है ? क्या आँसू किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बहते है ! हाँ, प्रार्थना अवश्य होती है कुछ पाने के लिए। सुना था सच्ची प्रार्थना, सच्चे हृदय से निकली हुई प्रार्थना, सच्ची भावनाओं से भरी हुई प्रार्थना कभी निरर्थक नहीं जाती। परन्तु...परन्तु **(चुप हो जाती है)**...

सुगतभद्र : किन्तु यदि सच्ची, सच्चे हृदय से निकली हुई, सच्ची भावनाओं से भरी हुई साथ ही एक दूसरे से ठीक विपरीत दो प्रार्थनाओं की टक्कर हो जाय।

उत्पलवर्णा : (पति की ओर देखते हुए) अर्थात्...

सुगतभद्र : अर्थात् यह कि तुम प्रार्थना कर रही हो कुमारायन के किसी भी प्रकार गृहस्थ आश्रम में बने रहने के लिए और कुमारायन प्रार्थना कर रहा है इस मोह-बन्धन को काटने की उसे शक्ति देने के लिए। तुम्हारी प्रार्थना है उसे इस जीवन से आसक्ति बनाये रखने के लिए, उसकी है अनासक्ति की। एक में पूर्ण आसक्ति के भाव हैं, दूसरी में उसके ठीक विपरीत विरक्ति के। मैं समझता हूँ दोनों प्रार्थनाओं में पूरी-पूरी सचाई है। दोनों सच्चे से सच्चे हृदय से की जा

रही हैं। दोनों में सच्ची से सच्ची भावनाएँ कूट-कूटकर भरी हैं। पर दोनों चाहती हैं एक दूसरे के ठीक विपरीत बातें। तब भगवान क्या करें।

उत्पलवर्णा : (कुछ विचारते हुए) कुछ समझ में नहीं आता।

[कुछ देर निस्तब्धता।]

सुगतभद्र : देखो; 'मानव मन, मस्तिष्क और हृदय दोनों से शासित है। मस्तिष्क का कार्य तर्क से समस्याओं का निर्णय कर और हृदय का कार्य भावनाओं को भर—कृति के लिए मन को प्रेरणा देना है। तुम इस समय मस्तिष्क का उपयोग न कर केवल हृदय की भावनाओं में बह रही हो।

उत्पलवर्णा : तो, तुम समझते हो कि जो कुछ कुमारायन करने जा रहा है वह ठीक है?

सुगतभद्र : यदि तुम्हारे पक्ष में कुछ कहने को है तो कुमारायन के पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है।

उत्पलवर्णा : ओह! तुम भी यह कह रहे हो! कदाचित् पिता का मन भी माता के मन के सदृश नहीं होता।

सुगतभद्र : मैं माता नहीं हूँ अतः माता के मन को कदाचित् नहीं समझ सकता, पर क्या पिता के मन में सन्तान के लिए स्नेह नहीं होता?

उत्पलवर्णा : (विचारते हुए) होता है, पर संतान के सम्बन्ध में भी उसका मन मस्तिष्क और हृदय दोनों से प्रेरित होता है। और माता का मन केवल हृदय से।

सुगतभद्र : पर जानती हो बिना मस्तिष्क के योग के हृदय से प्रेरित

हो मन ऐसी कृति भी कर सकता है जो कल्याणकारी न हो।

उत्पलवर्णा : तुम यह क्यों कह रहे हो जानते हो?

सुगतभद्र : क्यों?

उत्पलवर्णा : 'इसलिए कि पिता के मन में सन्तान के लिए कुछ महत्त्वाकांक्षाएँ भी रहती हैं पर माता के मन में केवल उसकी कुशल-भावना। किस प्रकार...किस प्रकार मैंने कुमारायन को गर्भ में रखा, किस प्रकार...किस प्रकार मैने उसका लालन-पालन किया! उसके सुख, आमोद-प्रमोद, कुशलतापूर्वक उसके जीवनयापन के लिए क्या-क्या जुटाया, क्या-क्या संग्रह किया और आज वह मेरी समस्त भावनाओं पर कुठाराघात कर इन समस्त सामग्रियों से मुख मोड़कर भिक्षु होने जा रहा है और तुम...तुम...उसके पिता तुम भी यह कहते हो कि उसके पक्ष में भी कुछ कहा जा सकता है।

सुगतभद्र : अवश्य कहा जा सकता है।

उत्पलवर्णा : ओह!

सुगतभद्र : देखो, इस संसार में कितने सम्राट्, राजा, राजकर्मचारी, व्यापारी अर्थात् सम्पन्न व्यक्ति हुए और हैं, पर किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितनों ने उस सम्पन्नता को ठोकर मारी है। हमारा पुत्र वह करने जा रहा है जो विरल व्यक्तियों ने किया है। एक महान् उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसका यह त्याग और साहस क्या तुम्हारे मन को आत्मगौरव और अभिमान की भावनाओं से नहीं भरता?

उत्पलवर्णा : मैंने कहा न, पिता के मन में संतान के लिए कुछ

महत्त्वाकांक्षाएँ भी रहती हैं परन्तु माता के मन में केवल उसकी कुशल-भावना।

सुगतभद्र : पर तुम यह कैसे कह सकती हो कि गृहस्थ ही कुशलतापूर्वक रह सकता है और भिक्षु नहीं। सुख और आमोद-प्रमोद के अगणित साधनों के रहते हुए भी क्या गृहस्थों को कोई मानसिक अथवा शारीरिक कष्ट या व्याधि नहीं होती? इस सृष्टि की रचना ही कुछ ऐसी है कि सभी को समय-समय पर मानसिक तथा शारीरिक हर्ष और विषाद, सुख और दुःख भोगना ही पड़ता है।

[कुमारायन का प्रवेश। अब वह बौद्ध भिक्षुओं के पीत-चीवर पहने हुए है, शरीर पर कोई भूषण नहीं है, सिर मुँडा हुआ। इस वेष में भी कुमारायन अत्यन्त सुन्दर दीख पड़ता है।]

कुमारायन : बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

[कुमारायन के ये शब्द सुन उत्पलवर्णा उठकर जिस ओर से कुमारायन आता है, चपलता से बढ़ती है। सुगतभद्र उसके पीछे जाता है।]

उत्पलवर्णा : (कुमारायन यह वेश-भूषा देख चिल्लाकर) हे भगवन्! हे भगवन्! यह...यह हुआ अन्त में!

कुमारायन : (झपटकर माँ के पैर पकड़कर) माता जी! 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय', जो होना उचित था वही हुआ। यह तो ... यह तो आपके और **(पिता की ओर देखकर)**

पिताजी के सुख का...सच्चे सुख का कारण होना चाहिए।

सुगतभद्र : मेरा मस्तिष्क एक बात कहता है, कुमारायन, और हृदय दूसरी। मैं प्रधानतया मस्तिष्क से शासित होता हूँ, हृदय से नहीं; पर ... पर बेटा! तुम्हारी माँ के मस्तिष्क को तो इस समय सारी शक्ति ही समाप्त हो गयी है। इनके मन पर हृदय का ही साम्राज्य है। कदाचित् स्वाभाविक भी है। माता का मन है, है न!

[**उत्पलवर्णा रो पड़ती है।**]

कुमारायन : माता जी, मैं आपको माता कौशल्या का स्मरण दिलाता हूँ। भगवान् राम के वन-गमन के समय किन भावनाओं से उन्होंने विदा दी थी।

उत्पलवर्णा : (**एक आसन्दी पर बैठती क्या गिरती हुई-सी हिचकियाँ लेते हुए**) माता कौशल्या! ...राम का वनगमन! ... बेटा राम का वनगमन पिता की आज्ञा के कारण हुआ था...।

कुमारायन : माता जी, राम का वनगमन यदि पिता की आज्ञा के कारण हुआ था तो मेरा यह वेष मेरी अन्तरात्मा की आज्ञा के कारण हुआ है।

उत्पलवर्णा : (**सिसकते हुए**) और...और, बेटा, उस वनवास की एक...एक निश्चित अवधि थी।

कुमारायन : इसकी भी अवधि है, माता जी!

उत्पलवर्णा : (**कुमार को देखते हुए उत्सुकता से**) निश्चित अवधि है?

कुमारायन : इस सृष्टि में अवधि-विहीन कुछ नहीं। मानव का जीवन क्या अवधि के परे है?

उत्पलवर्णा : **(सिर झुकाकर)** ओह...ओह !

सुगतभद्र : **(पत्नी के निकट ही एक दूसरी आसन्दी पर बैठते हुए)** मैंने कहा था न, इस विह्वलता से क्या होगा ? यदि तुम अपनी दीर्घ निःश्वासों से विश्व का सारा वायु-मण्डल भी भर दोगी, यदि अपनी इस अश्रुधारा से सारे विश्व को बहा भी दोगी तो भी क्या होगा; क्या होगा इससे?

उत्पलवर्णा : और मैंने उत्तर नहीं दिया था, क्या दीर्घ निःश्वास कुछ प्राप्त करने के लिए निकलती है? क्या आँसू किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए बहते हैं ? न पिता माता के हृदय को समझ सकता है और न पुत्र ही माता के हृदय को। तुम्हें क्या मालूम **(पति की ओर देख)** पुरुष जिस तरह मुक्ति चाहता है, नारी माँ बनना चाहती है। इसके लिए माँ का पद ही नारी-जीवन की चरम परिणति है। कितनी साध, कितने नियम-संयम से पाया है मैंने यह पद! और ... और आज वही मुझसे छीना जा रहा है! अब ... अब कौन कहेगा मुझसे माँ ?' और...

कुमारायन : **(बीच ही में)** परन्तु, माता जी, 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय,' आप अपने इकलौते पुत्र को देकर समस्त मानव-समाज की माता बन गयी हैं। अब आप बिदा दीजिए अपने इस प्रिय पुत्र को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'। मैं निरन्तर धम्मचर्चा कर सारे संसार में सद्धम्म की ध्वजा

उड़ा मानव मात्र का मंगल कर संसार का कल्याण करूँगा; आपकी कोख तथा पिता जी के नाम को धन्य करने का प्रयत्न कर आपके माँ के पद को सार्थक करूँगा।

सुगतभद्र : **(आँखों में आँसू भरकर)** मैं तो ऐसे सुत को पाकर धन्य हो गया हूँ। **(पत्नी से)** माता पुत्र का मङ्गल-चिन्तन करते हुए क्या बिदा-वेला में पुत्र को आशीर्वाद न देगी ?

कुमारायन : पिताजी, आपके चरणों से लिपटने की उत्कट अभिलाषा रहते हुए भी भिक्षु धम्म के अनुसार अब आपको केवल प्रणाम कर सकता हूँ, परन्तु माता के चरण-स्पर्श में तो कोई भी धम्म बाधक नहीं है।

[सुगतभद्र को झुककर प्रणाम करता है। पिता उसे हृदय से लगाता है। कुमारायन पुनः माता के पैरों में सिर रखता है, माता रोती और हिचकियाँ लेती हुई कुछ भी कहने में असमर्थ रहने के कारण कुमारायन के सिर पर हाथ रखती है।]

कुमारायन : बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

सुगतभद्र : 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'।

यवनिका

दूसरा अंक

स्थान : कूची के राजप्रासाद में जीवा का कक्ष

समय : सन्ध्या

[यह कक्ष भी उपक्रम और पहले अंक के कक्ष के सदृश ही है। इस में भी बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है । जीवा गाती हुई इधर-उधर घूम रही है। जीवा लगभग अठारह वर्ष की गौर वर्ण की अत्यन्त सुन्दर युवती है; मुख के अवयव और सारे अंग ढले हुए से। कौशेय वस्त्र की साड़ी पहने है और वैसा ही वस्त्र उभरे हुए वक्षस्थल पर बँधा है। सब अंगों में स्वर्ण के रत्नजटित आभूषण हैं।]

गीत

मुग्ध शिशुता क्यों सकुचती मृदुल अपने अवयवों में ?
मौन का अभिमान द्विगुणित, मुखरता अब है दृगों में।
मधुर पीड़ा की कसक में, विवश से क्यों प्राण धँसते ?
लोचनों की विकलता लख, वक्र से हो प्राण हँसते।
पूर्णता में इन्दु की छिपती, अमा की निशि अँधेरी।
इन अधूरे से क्षणों में, उलझती उद्भ्रान्ति मेरी।
दूर से आये पथिक ने, हृदय में पाया बसेरा,
शिथिल तम-पट यामिनी का, दूर है अब भी सबेरा।

जीवा : (गीत पूर्ण होने पर बुद्ध की प्रतिमा के सामने जा

प्रतिमा से) देव, कहा जाता है राजा शुद्धोदन के यहाँ गौतम के रूप में जन्म लेने के पूर्व आपके...आपके...अनेक ...अनेक जन्म हुए थे। तो...तो कुमारायन के रूप में क्या आप ने पुनः ...पुनः जन्म ग्रहण किया है, तथागत ? **(चुप होकर प्रतिमा की ओर देखती रहती है।)**

[कुमारायन का प्रवेश। जीवा इस प्रकार खड़ी है कि वह कुमारायन को नहीं देख पाती। कुमारायन आगे बढ़ने ही वाला है। जीवा का प्रतिमा के प्रति प्रथम शब्द सुनते ही कुमारायन आगे न बढ़ खड़ा रह जाता है।]

जीवा : देव, कहते हैं, आप...आप अत्यन्त सुन्दर थे...भारत... भारत देश से आये हुए इस भिक्षु कुमारायन...कुमारायन का सौन्दर्य भी कितना...कितना मनमोहक है,...कितना... कितना आकर्षक है? कहते हैं, तथागत, आप...आप महान् तेजस्वी थे, कितना...कितना तेज...तेज है कुमारायन में ! कहते हैं, देव,...आप बड़े विद्वान् थे। कुमारायन...कुमारायन से बड़ा विद्वान यहाँ...कूची राज्य में तो कभी कोई नहीं आया। कूची की संस्कृति शताब्दियों से भारतीय संस्कृति, हाँ, भारतीय संस्कृति के सदृश ही है। ...आपके सद्धम्म का प्रचार भी यहाँ ... यहाँ शताब्दियों से ही है, पर ... पर इस भिक्षु ... इस भिक्षु ने कूची में सद्धम्म की जैसी ... जैसी दुन्दुभि बजायी वैसी... वैसी इसके पूर्व कभी...कभी न बजी थी। ... **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** तो ... तो क्या आपने...आपने ही कमारायन के रूप में पनर्जन्म ग्रहण

किया है ? परन्तु कहा जाता था बुद्ध-पद प्राप्त करने के पश्चात् आप...आपने तो पुनर्जन्म से छुटकारा पा निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया। फिर...फिर क्या आपके ही सदृश सुन्दर, तेजस्वी, कुशाग्र बुद्धि विद्वान् एक द्वितीय...द्वितीय गौतम ... गौतम ने जन्म लिया है, आपके ही रहे हुए कार्य को पूर्ण करने के निमित्त? सारे संसार में सद्धम्म की स्थापना के लिए पिता जी को कितना...कितना जन-ज्ञान है ? अपने...अपने देश में सद्धम्म का प्रचार करते कहाँ-कहाँ ...हाँ, कहाँ-कहाँ...कितने देशों में घूमते-भटकते कुमारायन कूची आये और पिता जी ने उन्हें राजगुरु का पद दे दिया। उनके देश में कदाचित् कोई ऐसा ... ऐसा जन-ज्ञानी न था जो उनको पहचान ... पहचान पाता, उनका ... उनका मूल्यांकन करता । (**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्**) परन्तु...परन्तु सद्धम्म के प्रचार के लिए क्या...क्या भिक्षु होना अनिवार्य है ? अबतक जिन-जिन ने सद्धम्म का प्रचार किया वे क्या सब...सब भिक्षु थे?...प्रियदर्शी अशोक से अधिक किस...किसने अपने देश और देश-देशान्तरों में सद्धम्म की दुन्दुभि बजायी ? इसके ... इसके लिए उन्होंने तो राजपाट छोड़ना आवश्यक नहीं माना। वरन्...वरन् उन्होंने तो राजसत्ता को सद्धम्म के प्रचार के लिए सबसे बड़ा साधन ... हाँ, सबसे बड़ा साधन माना। और...और उन्होंने ही माना हो यह बात नहीं, अशोक की राजसत्ता सद्धम्म के प्रचार के लिए सबसे ...

हाँ, सबसे अधिक सफल साधन सिद्ध हुई। **(फिर कुछ रुक कर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** कुमारायन की यह ... यह अवस्था क्या भिक्षु होने की अवस्था है ? ... निसर्ग ने इन्द्रियों को क्या निरोध ... निरोध के लिए ही दिया है ? फिर...फिर यदि सभी...सभी बाल-ब्रह्मचारी तो भिक्षु ... भिक्षु हो जायँ तब ... तब तो सन्तानोत्पत्ति ही समाप्त हो जायेगी। और ... और इस सृष्टि की प्रगति ... प्रगति ही रुकेगी यह नहीं, सृष्टि के सदृश कोई वस्तु...वस्तु ही न रह जायगी। मैं... मैं भारत के वैदिक ... वैदिक धर्म की भी भक्त हूँ। वैदिक...वैदिक धर्म में चार आश्रम है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। ...गृहस्थ आश्रम अन्य किसी आश्रम से हेय नहीं माना जाता, वरन् ... वरन् अन्य आश्रमों का पोषक होने के कारण अनेक ऋषि महर्षि उसे अन्य आश्रमों से श्रेष्ठ ..श्रेष्ठ मानते थे। युवावस्था तक ब्रह्मचर्य रहता था, ... युवावस्था आते ही गृहस्थ आश्रम आता था ... इन्द्रियों को तोष होता था और योग्य संतान की उत्पत्ति। फिर...फिर वानप्रस्थ और संन्यास का विधान था। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखने के पश्चात्)** तथागत, कहते हैं मेरे... मेरे सदृश सुन्दर भी दुर्लभ है। ... नहीं जानती यह ... यह कथन कितना ... कितना सत्य है; क्योंकि कुरूप भी अपने को सुन्दर...सुन्दर ही समझता है। पर...पर यदि यह सत्य है तो...तो सुन्दर...सुन्दरतम कुमारायन...सुन्दर...सुन्दरतम जीवा...कुमारायन और जीवा...

जोवा और कुमारायन...विवाह...सुख...सुख की पराकाष्ठा और...और संतान...सत् संतान !... **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** देव, कैसे ... कैसे भाव सतत उठते रहते हैं मेरे ... मेरे मन में, इस भारतीय भिक्षु कुमारायन के लिए; उदधि...उदधि की ऊर्मियों ... ऊर्मियों के सदृश एक पर एक ... जिस ... जिस दिन से उसे...उसे देखा उसी दिन...उसी घड़ी...उसी पल से। ऐसे...ऐसे भाव, तथागत, जीवन में...जीवन में इसके...इसके पूर्व कभी... कभी...कभी भी नहीं उठे थे, किसी ··· किसी के लिए भी। ...नया एक दम नया अनुभव है यह मेरे लिए। और...और, देव, कुमारायन के मन में मेरे लिए कैसे भाव हैं ! कहना कठिन है। बोलने से भी अधिक एक विशेष प्रकार से देखना, मुस्कराना, हँसना आदि, भावनाओं का पता देते है । पर वहाँ तो न बोलना है, न देखना, न मुस्काना और न हँसना।

कुमारायन : (आगे बढ़कर) राजकुमारी...राजकुमारी !

[कुमारायन का शब्द सुन जोवा एक दम चौंक पड़ती है। बुद्ध प्रतिमा की ओर से घूम कुमारायन को देखती है। पर कुमारायन को देखते ही उसकी आँखें मुख सहित नीचे झुक जाती हैं और उसके मुख से जान पड़ता है, जैसे एकाएक उसके मन में एक पर एक न जाने कितनी बातें उठी रही हैं, पर उसका मन ऐसी अवस्था में नहीं आ रहा है कि उसके ओठों से एक शब्द भी निकल सके। कुछ देर एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता।]

कुमारायन : दुर्भाग्य से या...या सौभाग्य से भगवान् बुद्ध की

प्रतिमा से जो बातें आप कर रहीं थीं उन्हें मैंने सुन लिया। और...

जीवा : (सिर उठाकर कुछ क्रुद्ध हो बीच ही में) अच्छा, आप छिपकर मेरी बातें सुन रहे थे!

कुमारायन : छिपकर!...छिपकर तो नहीं कहा जा सकता किन्तु...

जीवा : (बीच ही में) किन्तु...परन्तु कैसा? मेरे बिना जाने मेरी बातें; ऐसी बातें जो मैं अपने इष्टदेव से कर रही थी, सुनते रहे, यह छिपकर सुनना नहीं तो किस प्रकार सुनना है?

कुमारायन : छिपकर...छिपकर सुनना तो तब कहा जा सकता था, राजकुमारी, जब...जब मैं उन्हें सुनने के उद्देश्य से आता या सुनकर आपको बिना जनाये चला जाता। मै आया था नित्य नियम के अनुसार आपको सद्धम्म का एक प्रकरण सुनाने। आप बातें कर रही थीं भगवान् बुद्ध की प्रतिमा से और...और इतनी तल्लीन थीं आप उन बातों, भावनाओं से ओत-प्रोत भरी हुई उन बातों में कि मैं स्तब्ध रह गया। न अपने आने की सूचना देने के लिए पैर बढ़े और न लौट कर जाने के लिए ही। वाणी को भी पक्षाघात के सदृश किसी ने अवरुद्ध कर दिया। जब आपकी बातचीत समाप्त हुई एकाएक पुनः चेतना आयी, पैर आगे बढ़े, वाणी खुली, पहला शब्द निकला आपका नाम और...और अपराध की स्वीकृति के लिए वाक्य निकला कि दुर्भाग्य या सौभाग्य से भगवान् बुद्ध की प्रतिमा से जो बातें आप कर रही थीं उन्हें मैंने सुन लिया।

[जीवा का सिर झुक जाता है। वह कुछ नहीं कहती, कुमारायन उसको ओर एकटक देखता रहता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : जो कुछ हो, राजकुमारी, परन्तु यह परिस्थिति अत्यन्त गम्भीर है और अब तो इस विषय पर चर्चा अनिवार्य जान पड़ती है। **(कुछ रुककर)** अभी चर्चा की जाय या जब आप आज्ञा दें?

जीवा : (थोड़ा सिर उठाकर भर्राये हुए स्वर में) नहीं, अब तो जितनी जल्दी हो सके इस चर्चा को कर ही डालना ठीक होगा। मुझे इस समय कोई अन्य कार्य नहीं है। **(एक आसन्दी पर बैठती है। उसका सिर नीचे झुक जाता है।)**

[कुमारायन जीवा के निकट ही एक दूसरी आसन्दी पर बैठता है। कुछ देर फिर निस्तब्धता।]

कुमारायन : (धीरे-धीरे) मैं...मैं अपने को परम सौभाग्यशाली मानता हूँ, राजकुमारी, कि आपका मुझ पर इतना...इतना प्रेम है। परन्तु आप जानती हैं, राजकुमारी, मैं भिक्षु हूँ।

[जीवा कुछ उत्तर न दे सिर से पैर तक कुमारायन को देखती है। यह अवलोकन बिजली की चमक के सदृश एक निमिष में हो जाता है—और उसकी दृष्टि पूर्ववत् नीचे झुक जाती है। फिर निस्तब्धता।]

कुमारायन : भिक्षु के धर्म और कर्त्तव्य से आप अपरिचित नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में अब आप ही आज्ञा दीजिए कि मैं क्या करूँ?

[कुमारायन उत्सुकता से जीवा की ओर देखता है। जीवा उसी प्रकार मूर्त्ति के सदृश बैठी रहती है; कुछ नहीं बोलती। फिर निस्तब्धता।]

कुमारायन : तो फिर ?

जीवा : (सब ओर से साहस को बटोरते हुए थोड़ा सिर उठा भर्राये हुए स्वर में) भिक्षु धर्म साध्य है या साधन?

कुमारायन : नहीं, साध्य तो है बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, भिक्षु धर्म इसके लिए साधन है।

जीवा : तब ?

कुमारायन : तब ?

जीवा : तब...तब 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय के लिए क्या मेरी भावनाएँ बाधक हैं?

[कुमारायन का सिर झुक जाता है। जीवा उसकी ओर एकटक देखती रहती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : (सिर उठाकर धीरे-धीरे) आपकी भावनाएँ चाहे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ध्येय के लिए बाधक न हों परन्तु उस ध्येय की पूर्त्ति के लिए जो मार्ग मैंने चुना है उसके विपरीत हैं।

जीवा : (साहस से) अब आप तो मेरी भावनाओं से अवगत हो ही चुके हैं इसलिए मैं आपसे साहसपूर्वक कहना चाहती हूँ कि 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय के लिए आप का मार्ग ही मैं ठीक नहीं मानती।

कुमारायन : भगवान् बुद्ध आपके भी इष्ट हैं और भगवान् बुद्ध

का बताया हुआ मार्ग आप ठीक नहीं मानतीं ?

जीवा : भगवान् बुद्ध ने यह कभी नहीं कहा कि 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय की पूर्त्ति के लिए भिक्षु होना ही एक-मात्र मार्ग है। फिर, आर्य, इस मार्ग को मैं आपकी इस अवस्था में अस्वाभाविक मानती हूँ।

कुमारायन : इन्द्रिय-निग्रह किसी भी अवस्था में हो सकता है।

जीवा : इसीलिए तो बौद्ध विहारों और संघारामों के संबंध में अनेक चर्चाएँ सुन पड़ने लगी है।

कुमारायन : इनमें अधिकांश चर्चाएँ मिथ्या अपवाद हैं।

जीवा : हो सकता है। पर आप भी अधिकांश शब्द का ही उपयोग करते हैं। देखिए, आर्य, इस विषय में भारत के वैदिक धर्म की आश्रम-व्यवस्था को मैं सर्वोत्तम मानती हूँ।

कुमारायन : वह तो आप अभी बौद्ध प्रतिमा से कह ही रही थीं।

जीवा : और इसी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमद्भगवद्-गीता के एक कथन को भी मैं सही समझती हूँ।

कुमारायन : कौन से कथन को?

जीवा : कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

[कुमारायन का सिर फिर झुक जाता है। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : (धीरे-धीरे सिर उठाते हुए) जो कुछ हो, राज-कुमारी, मैंने 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ध्येय की पूर्त्ति के लिए एक मार्ग चुन लिया है। और उस मार्ग पर चलना

मेरा अब धर्म है। **(कुछ रुककर)** राजकुमारी, मैं इस राजगुरु पद से मुक्त हो कल कूची राज्य छोड़ दूँगा।

जीवा : (घबराकर खड़े हो एकदम भर्राये हुए स्वर में) ऐसा !

कुमारायन : (जीवा के खड़े होने के कारण स्वयं खड़े हो, भर्राये हुए स्वर में) विवश हूँ, राजकुमारी !

जीवा : (साहस से) एक ललना की भावनाओं को जानने के पश्चात् उन्हें रौंदकर, एक युवती के हृदय को मसोसकर, एक तरुणी के सारे जीवन के हरे-भरे उद्यान को मरुस्थल बनाकर आप कल जा रहे है !

कुमारायन : हृदय पर पत्थर रखकर, जा रहा हूँ, राजकुमारी। विवश हूँ।

जीवा : (अत्यन्त साहस से) आप जानते हैं आप एक पाप कर रहे हैं।

कुमारायन : (आश्चर्य से) पाप ! राजकुमारी ?

जीवा : (उसी प्रकार साहस से) घोर पाप !

[दोनों एक दूसरे की ओर एकटक देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

जीवा : (उसी प्रकार साहस से) आर्य, आपने मेरे इष्ट देव से की हुई सारी बातों को सुन लिया है। इसलिए अब संकोच करने या कुछ छिपा रखने की आवश्यकता नहीं है। मैं एक पवित्र...पवित्रतम महिला हूँ। आपके कूची आने के पूर्व यह हृदय किसी ओर भी आकर्षित न हुआ था। इस आत्म पर आधिपत्य की किसी की भी क्षणमात्र को छाया न पड़ी

थी। पर...पर प्रथम दर्शन में ही आपके पदों में मैंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया और...और वह सर्वथा शुद्ध भावनाओं से। जनकपुर की वाटिका में राम के प्रथम दर्श के समय सीता के हृदय में उनके लिए यदि प्रेम का पयोधि उमड़ा तो क्या उसमें किसी प्रकार की रञ्चमात्र भी अपवित्रता थी ? सत्यवान के लिए सावित्री ने यदि अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया तो क्या उसमें किसी प्रकार की अशुद्धता थी ? कूची की ललनाओं के लिए सीता और सावित्री का प्रेम आदर्श है और जब तक कूची में भारतीय संस्कृति का अस्तित्व है तब तक कौन कह सकता है कि किसी भी सती साध्वी महिला की सच्चे प्रेम की दीप्त-शिखा में मलिनता का आभास भी हो सकता है। फिर मनुष्य में देवत्व और पशुत्व दोनों का निवास है यह मानकर चलने पर ही मनुष्य मनुष्य को समझ सकता है; उसकी निर्बलता को भी। सच्ची दया, सहानुभूति और सहनशीलता तब तक उत्पन्न हो ही नहीं सकती, जब तक इसे मानकर न चला जाय कि निसर्ग ने मनुष्य को देवत्व और पशुत्व दोनों के मिश्रण से रचा है। आप जानते ही हैं कि भगवान् तथागत ने सच्ची दया, सहानुभूति और सहनशीलता मानव के सर्वश्रेष्ठ गुण माने हैं। (कुछ रुककर) जाइए आर्य, आप जाइए; और जानते हैं आपके गमन के पश्चात् मैं क्या करने वाली हूँ ? आपकी प्रतिमा को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर आजन्म उसका पूजन ! संसार में कौन

मुझे उससे विमुख कर सकता है ? आपका भिक्षुव्रत है मेरा होगा आजीवन कौमार्यव्रत ।

[**कुमारायन का सिर एक दम नीचे झुक जाता है । जीवा उसकी ओर एकटक देखती रहती है । कुछ देर निस्तब्धता ।**]

कुमारायन : (**धीरे-धीरे सिर उठाते हुए बौद्ध प्रतिमा की ओर देखकर**) भगवन् !...भगवन् !

यवनिका

तीसरा अंक

स्थान : कूची में कुमारायन का कक्ष

समय : अर्धरात्रि

[कक्ष अब तक के अन्य कक्षों के सदृश ही है। इस कक्ष में भी बुद्ध की एक विशाल मूर्त्ति है। कुमारायन खड़ा हुआ इस मूर्त्ति से बातें कर रहा है।]

कुमारायन: देव, विचित्र...विचित्र परिस्थिति है! ...मैं अपने को हाँ,...अपने को ही नहीं समझ...पा रहा हूँ। इतना...इतना अवश्य जान पड़ता है कि मेरे अब तक के विश्वासों रूपी भवन में दरारें पड़ गयी हैं। और...और मैं मानसिक दृष्टि से अन्धा होता जा रहा हूँ, बहरा होता जा रहा हूँ। पर... पर जीवा...जब जीवा दिख पड़ती है तो उस बहरे के समान हो जाता हूँ जिसकी दृष्टि तेज हो जाती है और जब कहीं उसका शब्द सुनायी देता है तब उस अंधे के समान जिसके कान। मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी इसलिए है कि निसर्ग ने उसे ज्ञान शक्ति दी है। उस शक्ति के कारण वह विचारप्रधान प्राणी है। पर...पर सुना था प्रेम ऐसी बला है जो विचार तक का स्थान ले लेता है। और जहाँ...जहाँ विचार की शक्ति का स्थान प्रेम ने लिया प्रेम को छोड़कर और सब कुछ ... हाँ, सब कुछ भुला जाता है। कहते हैं,

देव, प्रेम ऊँची...बहुत ऊँची वस्तु है, और...और वह सब कुछ भुलाकर मानव को पूर्णता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देती है। इस...इस परिस्थिति में जो अन्य सभी वस्तुओं की विस्मृति होती है उसमें बुरी बातों की भी विस्मृति हो जाती है। परन्तु ..परन्तु, जब सभी बातों की विस्मृति होती है तब बुरी के साथ अच्छी बातों की भी विस्मृति हो जाती होगी ? **(कुछ रुककर)** और...और उस प्रेम से अधिक बलवान् कदाचित् अन्य कोई...कोई भी प्रेम न होता होगा, जिसमें प्रेम पात्र भी कष्ट देने वाला हो। **(फिर कुछ रुककर)** जान...जान पड़ता है, देव, मेरी बुद्धि में कहीं न कहीं से विष...हाँ, विष का समावेश हो गया है। बौद्धिक विष कदाचित् शारीरिक विष से कई गुना अधिक...अधिक भयानक होता है। **(कुछ रुककर)** समझ में नहीं आता, भगवन्, मेरी कैसी...कैसी दशा हो गयी है?

[जीवा का प्रवेश। कुमारायन इस प्रकार खड़ा है कि वह जीवा को नहीं देख पाता। जीवा कुछ और छिपकर खड़ी हो जाती है और ध्यान से कुमारायन की बातचीत सुनने लगती है।]

कुमारायन : क्या, तथागत, अपने...अपने को समझना ही सबसे कठिन है ?...घर...घर के वैभवशाली...महान् वैभवशाली जीवन को परिवर्त्तित करते समय क्या मैंने अपने को ठीक...ठीक प्रकार समझा था ? उस...उस जीवन के परिवर्तन के समय भी संकल्प-विकल्प मन में...मन में उठे

थे, किन्तु...किन्तु, निर्णय के पश्चात् कोई बाधा...माता के स्नेह की बड़ी से बड़ी बाधा भी मेरे मार्ग को अवरुद्ध न कर सकी।...घर...घर से निकला, देश-देशान्तरों में घूमता-घामता कूची पहुँचा।...प्रण किया था परिव्राजक के सदृश सतत पर्यटक रहने का, यहाँ...यहाँ आते ही यह राजगुरु का पद क्यों...क्यों स्वीकार किया?...इस...इस पद को स्वीकार करने के पूर्व देखा था जीवा को।...जीवा कहती थी प्रथम दर्शन में ही उसने मुझे अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। ...उसने...उसने यह अनजान में...अनजान में नहीं किया है, पर...पर मानव अनजान में भी बहुत सी बातें कर बैठता है, तथागत। मैंने...मैंने भी अनजान में वही तो नहीं किया था जो जीवा ने जानकर। और...और यथार्थ में यही... यही कारण तो नहीं था इस...इस राजगुरु पद को स्वीकार करने का। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** देव, जीवा...जीवा सचमुच अद्वितीय सुन्दरी है। और...और सौन्दर्य...सौदर्य के साथ कितना बुद्धिमान है उसका मस्तिष्क। साथ ही कोमल और दृढ़ दोनों एक दूसरे से विरुद्ध गुणों वाला हृदय। और...और इन सारे सद्गुणों के संग कितनी पवित्रता है उसमें जिसके कारण शील की तो वह प्रतिमा...मूर्त्तिमन्त प्रतिमा ही हो गयी है। ...उस दिन...उस दिन उसका आजन्म कौमार्य व्रत का संकल्प! ओह!...ओह!...कहती थी मैं एक ललना की भावनाओं को जानने के पश्चात् उन्हें रौंदकर, एक युवती

के हृदय को मसोसकर, एक तरुणी के सारे जीवन के हरे-भरे उद्यान को मरुस्थल बनाकर जा रहा हूँ। क्या...क्या, तथागत, यह सचमुच...सचमुच ही पाप है ?...इसीलिए... इसीलिए क्या उस दिन...उस दिन उससे जो यह...यह कह-कर आया था कि मैं राजगुरु पद से मुक्त हो कल कूची राज्य छोड़ दूँगा, उस निर्णय को अब तक दिन पर दिन... सप्ताह पर सप्ताह...पक्ष पर पक्ष...मास पर मास व्यतीत होने पर भी कार्यरूप में परिणत...परिणत नहीं कर पा रहा हूँ ?...मस्तिष्क उस...उस कृति की प्रेरणा ही नहीं देता... पैरों में सीसा भर गया है...वे उठते ही नहीं। यह...यह जीवा के कहे हुए पाप...पाप के भय से अथवा अनजाने... अनजाने ही मैं भी उसे अपना...अपना जो सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ, उसके कारण जीवा के प्रेम-पयोधि में...डूब जाने के कारण ? सारे तर्क इस प्रेम के विरुद्ध जाते है, पर... पर मस्तिष्क जितना तर्क करता है उतना ही हृदय उन तर्कों पर पानी फेर देता है। हृदय...हृदय की सोती हुई भावनाएँ भी मस्तिष्क के जागते हुए तर्कों से अधिक...कहीं अधिक बलवान् जान पड़ती हैं। यह क्या इसलिए...इसलिए, देव, कि तर्क मानव की सृष्टि है और भावनाएँ अन्य किसी अनजानी शक्ति की। क्या...क्या इसीलिए तर्क चाहे स्पष्ट और भावनाएँ अस्पष्ट हों, परन्तु,तर्क से भावनाएँ अधिक बल-वती हैं और...और इसीलिए क्या हृदय जब तक मस्तिष्क का साथ न दे तब तक मस्तिष्क चाहे तर्क कितनी ही क्यों

न किया करे कृति संभव नहीं रहती। मस्तिष्क और हृदय के इस युद्ध में मैं देखता हूँ, मन वही...वही सोचता है जो ...जो वह नहीं सोचना चाहता और जो उसे नहीं सोचना चाहिए। कहा...कहा न, देव, विचित्र...विचित्र परिस्थिति है। मैं अपने को हाँ,...अपने को ही नहीं समझ पा रहा हूँ। मेरी दशा...दशा क्या सचमुच भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमद्-भगवद्गीता में कहे हुए उस...उस कथन के सदृश हो गयी है जो...जो जीवा ने उस दिन कहा था? **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्)** निसर्ग ने ये इन्द्रियाँ क्या निरोध करने के लिए ही दी हैं? जीवा...जीवा क्या...क्या ठीक नहीं कहती थी कितना...कितना सुख हो यदि उसका और मेरा विवाह हो जाय! और कैसी...कैसी हो हमारी संतति!...संतति की उत्पत्ति ही भारतीय संस्कृति में विवाह का मुख्य उद्देश्य माना जाता है, और... और,तथागत,सचमुच ही यदि सब बाल-ब्रह्मचारी भिक्षु हो जायँ तब...तब तो सन्तानोत्पत्ति ही समाप्त हो जाय। और...और इस सृष्टि की प्रगति...प्रगति रुके ही नहीं इस सृष्टि के सदृश कोई वस्तु ही न रह जाय।...कैसी...कैसी भावनाएँ हैं जीवा...जीवा के हृदय में मेरे लिए! देव, वह... वह तो मुझे आपका...आपका ही अवतार मानती है।... तो...तो फिर **(एकदम चौंककर)** हैं...कहाँ...कहाँ जा रहा हूँ मैं? पथभ्रष्ट...पथभ्रष्ट हो रहा हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि जीवन मछुवे के जाल के समान हो गया है, जितना

...जितना अधिक सुधारने का यत्न करता हूँ, उतने ही छेद बढ़ते जाते हैं, देव। क्या...क्या जीवन में कुछ बातों को रोकना वैसा ही असम्भव है जैसा प्राकृतिक झंझावातों को? क्या...क्या मैं यथार्थ में इन्द्रिय-निग्रही न होकर इन्द्रिय-लोलुप ही हूँ? ...क्या...क्या मनुष्य अपनी जिन...जिन वासनाओं पर विजय पाने से मन ही मन प्रसन्न हो अपनी सराहना करने लगता है, वे वासनाएँ यथार्थ में उसकी गौण वासनाएँ होती हैं; मुख्य वासनाओं पर विरले को ही विजय मिलती है? मेरे मन के लिए तो यह सबसे बड़ा झंझावात आगया, ज्वालामुखी फट पड़ा, भू-कम्प हो गया, समुद्र ने सीमा छोड़ दी। मेरी मानसिक सृष्टि में जो कुछ...जो कुछ हो रहा है, वह यदि किसी तरह बाह्य सृष्टि में भी हो जाता और मेरा वह किसी प्रकार विनाश...विनाश कर देता! कैसी...कैसी विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न हो गयी, जिसे उत्पन्न करने या रोकने के लिए हम उत्तरदायी भी नहीं हैं। कभी...कभी सुना था स्त्रीत्व की ओर से इस प्रकार के सफल स्वागत से अधिक सुखदायी और रंगीली हाँ, सुखदायी और रंगीली मानसिक अवस्था तरुणाई के लिए और कोई नहीं हो सकती। परन्तु, क्या...क्या सोच-कर मैंने अपना घर, माता-पिता, अपना देश सबको छोड़ा था? काञ्चन और कामिनी को पास न फटकने दूँगा, यह प्रतिज्ञा की थी।

जीवा: (आगे बढ़कर साहस भरे स्वर में) काञ्चन निर्जीव होता

है, आर्य ! कामिनी सजीव ।

[कुमारायन जीवा का शब्द सुन चौंककर उसकी ओर देख तत्काल अपना सिर झुका लेता है । जीवा एकटक उसकी ओर देखती रहती है । कुछ देर निस्तब्धता ।]

जीवा : उस दिन...उस दिन, आर्य, आपने...आपने तो मेरा भगवान् बुद्ध से वार्तालाप छिपकर नहीं सुना था । मेरा वार्तालाप चल रहा था आप अचानक पहुँचकर स्तब्ध हो गये थे । न आप में आगे बढ़ने की शक्ति रही थी और न पीछे लौटने की । पर मैंने तो भगवान् बुद्ध से आपका वार्तालाप छिप कर सुना, और वह न जाने कितने प्रयत्न के पश्चात् सुनने को मिला । मेरी भावनाओं को आप दैवयोग से ही क्यों न हो, जान गये थे और मेरी भावनाओं के आपके प्रति प्रकट होने के पश्चात् आप मानेंगे मेरा यह अधिकार था कि मैं भी अपने प्रति आपकी भावनाओं को जानने का प्रयत्न करूँ ।

कुमारायन : (सिर उठाते हुए) आपके इस अधिकार को मैं स्वीकार करता हूँ ।

जीवा : साधुवाद । आज पता लग गया मुझे आपकी भी भावनाओं का । भगवान् तथागत के सामने आपने अपनी एक प्रकार की भावनाओं को दूसरी प्रकार की भावनाओं के परकोटे से घेरकर अपनी रक्षा करना चाही पर वह हो न सकी । साथ ही मुझे एक बात और ज्ञात हुई ।

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : मनुष्य हर वस्तु को छोड़ सकता है, हर वस्तु से भाग

सकता है, पर स्वयं को न छोड़ा जा सकता है और न स्वयं से भागा जा सकता।

कुमारायन : (विचारते हुए) जान तो ऐसा ही पड़ता है।

जीवा : (एक आसन्दी पर बैठते हुए) आप यहाँ से न जा सके इसका कारण जानते हैं ?

कुमारायन : (उसी प्रकार विचारते हुए) वह अपने को ही छोड़ देना और अपने से ही भागना था।

जीवा : आपके प्रस्थान की किस प्रकार प्रतीक्षा की मैंने। वह यामिनी मेरे लिए काल-रात्रि थी। और...और कितनी लम्बी हो गयी थी वह निशा, उसका एक-एक प्रहर और प्रहर की एक-एक घटिका ही नहीं एक-एक पल एक-एक युग के सदृश हो गया था।

कुमारायन : (जो जीवा के बैठते ही उसके निकट एक दूसरी आसन्दी पर बैठ गया था, बीच ही में) और निद्रा तो उस निशा में आयी ही न होगी?

जीवा : निद्रा ? निद्रा तो उस निशा में ही क्यों, उसने तो उस दिन के पश्चात् मेरा संग ही छोड़ दिया है। और निद्रा की सखी है क्षुधा। जहाँ निद्रा नहीं वहाँ क्षुधा कहाँ ?

कुमारायन : (चिंताकुल स्वर में) तो उस दिन के पश्चात् आप सोयी नहीं, आपने कुछ खाया नहीं ?

जीवा : कुछ ऊँघा अवश्य है। खाया नहीं यह तो न कहूँगी। माता जी के कारण खाना तो पड़ता ही है पर, आर्य, क्षुधा से नहीं।

कुमारायन : (दीर्घ निःश्वास छोड़कर) ओह !

जीवा : आर्य, जब वह रात बीती, उषा का प्रकाश फैला, जान पड़ा दशों दिशाओं में दावानल लगा है । थोड़ी ही देर पश्चात् पूर्व से अग्नि का एक गोला निकला, दशों दिशाओं को सारे भू-मण्डल को भस्मीभूत करता हुआ । मैं जलती-भुनती हुई झपटकर आपके कक्ष की ओर आयी । यह देखने कि आपका कब प्रस्थान होता है ।

कुमारायन : आपको यह देखकर आश्चर्य हुआ होगा कि प्रस्थान की कोई तैयारी ही न थी?

जीवा : अत्यधिक आश्चर्य हुआ । जब आप उस दिन न गये, सोचा दूसरे दिन जायेंगे, पहली निशा और उसके पश्चात् के दिवस को जो हुआ था वही दूसरी निशा और दूसरे दिवस हुआ । पर...पर उसके पश्चात् जो आशा मर गयी थी, और आशा के मरण के पश्चात् जीवन में जीवन कहाँ रह सकता है, उसे संजीवनी बूटी मिली । मरी हुई आशा से पुनः आशा की एक क्षीण रेखा दिखायी दी । एकाएक मन में उठा अब ... अब आप न जायँगे । मेरा हरा-भरा जीवन रूपी उपवन जिसे निराशा के दावानल ने मरुस्थल-सा बना दिया था उसमें आशा की वृष्टि से पुनः नये कोपल निकल आये, मेरे जीवन रूपी भवन की चित्रकारी जिसे निराशा ने एकाएक पोंछकर मिटा दिया था उसमें आशा रूपी तूलिका ने फिर से नये रंग भर दिये ।

कुमारायन : दूसरे दिन के पश्चात् ही आपके मन में इस आशा का उदय हो गया ?

जीवा : हाँ, दूसरे दिन के पश्चात् ही। और फिर तो ज्यों-ज्यों दिन पर दिन बीतते गये यह आशा बढ़ती गयी। उस आशा के साथ एक इच्छा की उत्पत्ति हुई, अपने प्रति में आपकी भावनाओं को जानूँ।

कुमारायन : यह इच्छा स्वाभाविक थी, राजकुमारी।

जीवा : उसके पश्चात् कितने चक्कर काटे आपके कक्ष के दिन और रात में, उषा और सन्ध्या में, मध्याह्न और अपराह्न में। छिपकर, किसी प्रकार की आहट भी न होने पावे इस पर हर प्रकार का ध्यान रखकर, और आज, आर्य, वह इच्छा, वह आकांक्षा, वह उत्कण्ठा पूर्ण हुई। आपने अकस्मात् मेरी भावनाओं को जान लिया था, मैंने प्रयत्न कर यह गुरुतर अपराध किया है। क्या आप क्षमा न करेंगे ?

कुमारायन : नहीं, राजकुमारी, आपने कोई अपराध नहीं किया। मैंने स्वीकार किया है कि वह आपका अधिकार था।

जीवा : (दीर्घ निःश्वास लेकर) अब आप एक बात जानते हैं ?

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : इतने दिनों निद्रा तथा क्षुधा का बलिदान कर, और निद्रा तथा क्षुधा ही क्या, अपने से सम्बन्धित सब कुछ का बलिदान कर, मैंने जो साधना, जो तपस्या की वह आज सफल हो गयी, मुझे वर मिल गया। अब मुझे इसकी चिंता नहीं कि आप आजन्म भिक्षु रहते हैं एवं मैं आजन्म कौमार्य व्रत का पालन करती हूँ।

कुमारायन : (आश्चर्य से) ऐसा!

जीवा : जी हाँ, मुझे इधर एक नवीन...नवीनतम अनुभव हुआ है। प्रेमी...सच्चे प्रेमी को कदाचित् सबसे बड़ी अभिलाषा यह जानने की रहती है कि जिससे वह प्रेम करता है उसकी उसके प्रति क्या भावनाएँ हैं ? आज मुझे ज्ञात हो गया, आर्य, कि मैं अभागिनी असफल प्रेमिका नहीं हूँ। अनजाने ही क्यों न हो आप...आपके हृदय में भी मेरे प्रति वैसी ही भावनाएँ हैं जैसी मेरे हृदय में आपके प्रति। इन दिनों मेरा जीवन दूभर हो गया था। मुझे अनुभव होने लगा था कि जब प्रेम से प्रेम नहीं किया जाता तब प्रेम मृत्यु से प्रेम करने लगता है। **(नेत्रों से टपाटप आँसू की बूंदें गिरने लगती है। जान पड़ता है कि उसकी सारी कोमलता इन आँसुओं के रूप में झर रही है।)**

कुमारायन : मनुष्य एकान्त में ही पूर्णरूप से निष्कपट रह पाता है। कपट अन्य के प्रवेश के साथ आता है, इसीलिए अनेक बार मनुष्य जो सोचता है वह किसी भी परिस्थिति में किसी भी अन्य के समक्ष मुँह से नहीं निकल सकता। परन्तु यदि छिपकर उसे सुन लिया जाय तो वह कर ही क्या सकता है? आपके जीवन रूपी उपवन को अब निराशा का दावानल कभी मरुस्थल न बना सकेगा, आपके जीवन रूपी भवन की चित्रकारी अब निराशा पोंछकर कभी न मिटा सकेगी। आपने मुझे सिद्ध कर दिया, देवि, कि इहलोक और परलोक दोनों का सर्वश्रेष्ठ उपभोग ही सच्चा जीवन है। **(आसन्दी से उठ जीवा के पैर पकड़कर)** आपने मुझे

परास्त कर दिया, देवि! प्रेम की वैराग्य पर विजय हो गयी।

जीवा : (जो कुमारायन के पैर पकड़ते ही चौंककर खड़ी हो गयी थी और जिसने अपने पैर प्रयत्न कर छुड़ा लिये थे) यह... यह आप क्या करते हैं, आर्य ?...तो मैं सचमुच...सचमुच ही भाग्यशालिनी, परम सौभाग्यशालिनी हूँ!

[दोनों अत्यन्त प्रेम भरी दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखते रहते हैं, मानो एक दूसरे को नेत्र-मार्ग द्वारा अपने भीतर प्रविष्ट कर रहे हों। कुछ देर निस्तब्धता।]

जीवा : (कुमारायन के दोनों हाथ पकड़कर शयन पर बिठाते हुए तथा स्वयं उसके निकट बैठते हुए) और देखिए, आप यह तो नहीं मानते न कि आप पथभ्रष्ट होकर कोई अनुचित कार्य कर रहे हैं ?

कुमारायन : मेरा मन इस प्रकार का विचार अथवा निर्णय करने की अवस्था में ही नहीं है।

जीवा : पर मेरा मन है और इस संबंध में मैं आप से चर्चा करना चाहूँगी, क्योंकि मैं यह नहीं चाहती कि भावोद्वेग में आप कोई ऐसी बात कर बैठें जिससे आगे चलकर आपको कोई पश्चात्ताप हो तथा उसका कारण मैं बनूँ। मुझे यदि आशा की किरण के दर्शन हुए तो उससे मेरी दृष्टि चकाचौंध होकर इस प्रकार धूमिल तो नहीं होनी चाहिए जिससे मैं अन्धी के समान हो जाऊँ। ऐसे अवसरों पर तो शान्तिपूर्वक विचार करने की और अधिक आवश्यकता होती है। देखिए, आर्य, इस निसर्ग की सृष्टि को, थोड़ा व्यापक दृष्टि

से देखिए और फिर विचार कीजिए कि हमारा एक दूसरे के प्रति यह आकर्षण क्या किसी भी प्रकार अस्वाभाविक समझा जा सकता है ? आकर्षण और प्रत्याकर्षण ही इस सृष्टि का सर्वप्रधान नियम है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सब एक दूसरे के आकर्षण और प्रत्याकर्षण में बँधे हुए हैं। हमारी इस पृथ्वी में जड़-चेतन सभी में हमें वही आकर्षण और प्रत्याकर्षण दिखायी देता है । यदि आकर्षण और प्रत्याकर्षण न हो तो यह सृष्टि ही समाप्त हो जाय। उत्पत्ति, विकास, क्षय और पुनः उत्पत्ति समस्त रचना का क्रम है । यदि उत्पत्ति ही नहीं तो विकास, क्षय और पुनः उत्पत्ति कहाँ? और उत्पत्ति आकर्षण और प्रत्याकर्षण का फल है। हमारी पृथ्वी की सर्वश्रेष्ठ रचना इस मानव में निसर्ग ने जो ज्ञान-शक्ति दी है, प्रेम उसकी सर्वोत्कृष्ट भावना है। प्रेम निर्गुण नहीं, वह सगुण है। और गुणों में आकांक्षाएँ तथा वासनाएँ दोनों ही रहती हैं। शरीर रहते उन्हें विनष्ट करने का प्रयत्न नैसर्गिक सीमाओं का उल्लङ्घन है। प्रेम क्षुधा की श्रेणी की एक अवस्था है। बिना क्षुधा के जिस प्रकार स्वस्थ शरीर का नाश हो जाता है उसी प्रकार बिना प्रेम के स्वस्थ मन का। प्रेम की तुष्टि के लिए भी उचित सीमा तक इन्द्रियों का अवलम्बन आवश्यक होता है और इन्द्रियों के अवलंबन के पूर्ण अभाव में तो किसी भी ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। उद्भिज सृष्टि और प्राणि जगत् दोनों में आत्म-रक्षण और वंश-वर्धन की प्रेरणा नैसर्गिक है।

वंशवर्धन भी यथार्थ में आत्म-रक्षण ही है। इन्द्रियों का संयम, निग्रह आदि बलात्कार वाले शब्दों के स्थान पर इन्द्रियों का संयोजन शब्द का उपयोग उचित जान पड़ता है। इसीलिए आपकी भारतीय संस्कृति में पत्नीत्व और मातृत्व का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। मातृत्व का जो सर्वोच्च पद माना जाता है वह क्या पत्नीत्व के बिना संभव है? तब...तब हमारे प्रेम का हम दोनों के लिए कौनसा स्थान है इस पर आप स्वयं विचार कर सकते हैं। संसार में सबसे अधिक कष्टप्रद स्थिति सच्चे साथी का अभाव है और पति-पत्नी से अधिक सच्चा साथ किसका हो सकता है?

कुमारायन : आपका यह तर्क तो अकाट्य है, पर फिर, देवि, संन्यास का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

जीवा : अवश्य रहता है।

कुमारायन : कैसे?

जीवा : मैंने अभी निवेदन किया उत्पत्ति, विकास, क्षय और पुनः उत्पत्ति इस सृष्टि का स्वाभाविक नियम है। जब क्षय का समय आता है तब संन्यास को स्थान मिलता है, विकास के पूर्व नहीं? मैंने उस दिन भी कहा था, मैं भारतीय संस्कृति की आश्रम-व्यवस्था को ठीक व्यवस्था मानती हूँ।

कुमारायन : पर, ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् भी संन्यास आश्रम में जाने वाले क्या भारत में नहीं हुए?

जीवा : जिस प्रकार हर एक अपवाद अस्वाभाविक होता है उसी प्रकार ऐसे व्यक्ति भी। आप यदि इनके जीवन का

अध्ययन करेंगे तो अधिकांश में आपको अनेक प्रकार की अस्वाभाविकताएँ दृष्टिगोचर होंगी। यदि नीति और विवेक दो कगारों के बीच जीवन-सरिता को स्वाभाविक रूप से बहने दिया जाय तो...तो बाँध टूटकर जो प्रलयंकर दृश्य उपस्थित होता है, न वह होगा और न मलिनता आयेगी। मानव केवल सामाजिक जीव ही नहीं वह गार्हस्थ्य जीव भी है। बिना पुरुष के संपर्क के न स्त्री सच्ची स्त्री हो सकती है और न स्त्री के संपर्क के बिना पुरुष सच्चा पुरुष। यदि ऐसा न होता तो प्रकृति स्त्री और पुरुष दोनों बनाती ही क्यों? बिना इस संपर्क के तो जीवन रूपी आकाश में स्त्री-पुरुष एकाकी और निराश्रित मेघ-खण्डों के सदृश भटकते रहते।

कुमारायन : **(मुस्कराकर)** कई ऐसे प्राणी भी हैं, जो द्विलिंग होते हैं।

जीवा : **(मुस्कराते हुए)** वे प्राणी जगत् की आरंभिक अवस्था के द्योतक हैं। प्राणी जगत् की उन्नत अवस्था पृथक्-पृथक् लिंग वाले प्राणियों से आरंभ हुई और अंत में सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी हुए स्त्री और पुरुष। फिर अनेक पुरुषों और स्त्रियों की आत्मा, या उसे जो कुछ भी आपको कहना हो कहिए, उनके शरीर के लिए बहुत बडी होती है, जैसे आपकी।

कुमारायन : ऐसा!

जीवा : जी हाँ; और ऐसी आत्मा अनेक भावनाओं के कारण जब और अधिक फूलती है, बढती है, तब उसे ऐसे साथी

की आवश्यकता होती है जो **(मुस्कराते हुए)** कोमल हो, मधुर हो, और जिसमें अत्यधिक सहानुभूति हो। ऐसे ही साथी मिलने पर उस महान् आत्मा को वैसा आश्रय मिल सकता है, जिससे आत्मा के फुलाव और बढ़ाव से शरीर फट न पड़े।

कुमारायन : (मुस्कराते हुए) मैं यह तो नहीं जानता कि मेरी आत्मा ऐसी है, पर तुम से अधिक कोमल, मधुर और सहानुभूति वाला आश्रय मुझे मिलना संभव न था। फिर तुमने अपने में जिन गुणों का वर्णन किया उनमें मैं शिव और सुन्दर दो गुणों को और जोड़ देता हूँ।

जीवा : (मुस्कराते हुए) ऐसा !

कुमारायन : जी हाँ।

[कुछ देर दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : तो...तो अब तो हमारे इस नवीन संबंध में एक ही बाधा आ सकती है।

जीवा : कौनसी ?

कुमारायन : आपके माता-पिता की अस्वीकृति।

जीवा : (अपने दोनों कंधे हिलाकर मानो उन पर रखे हुए किसी बोझ से मुक्त हो गयी हो) अल्पायु वाले सत्यवान् से भी विवाह करने के लिए सावित्री को उसके माता-पिता न रोक सके तो मुझे कौन रोक सकता है, आर्य ? प्रेम के... सच्चे प्रेम के ढाई अक्षरों में जो बल, जो शान्ति है, वह

किसी में नहीं (**कुछ रुककर**) हमारा आज का यह निर्णय एक बात का और प्रमाण है।

कुमारायन : किस बात का ?

जीवा : जिन बातों का हम पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है और जो बातें हमारे हृदय का ही एक भाग हो जाती हैं, उनके अनुसार अपने आप हमारा चिन्ता चलतन रहता है और उस संबंध में हम वही निर्णय करते हैं जो निर्णय करना चाहते हैं। भगवान् तथागत से इतनी ही प्रार्थना करती हूँ कि इस निर्णय के बाद स्वर्ग के देवता हमारी आत्माओं में निवास करें और पृथ्वी के देवता हमारे शरीरों में।

[**दोनों एक दूसरे की ओर अत्यन्त प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। कुछ देर फिर निस्तब्धता।**]

कुमारायन : (**कुछ देर पश्चात्**) कभी-कभी चुपचाप एक दूसरे को देखते रहना कदाचित् संभाषण से भी अधिक आनन्द-दायक होता है।

जीवा : इसीलिए कि हर प्रकार की पूजा के लिए अपने-अपने ढंग का मन्दिर होता है। (**कुछ रुककर**) अब एक ही निवेदन और है।

कुमारायन : कौनसा ?

जीवा : जलाने का काम केवल अग्नि ही नहीं करती, पर शीत भी करती है। प्रेम तो ऐसी वस्तु है, जिसे विप्रलंभ की विरह-वह्नि चाहे और अधिक प्रज्वलित कर सके पर ठण्डा मन उसे जला देता है। हमारे प्रेम-संबंध में यह शीत कभी

न आवे।

कुमारायन : इस शीत का आना असंभव है। हमारे प्रेम से प्लावित उष्ण हृदय एक दूसरे में संजीवनी शक्ति का संचार करते रहेंगे।

[अब जोवा एक गीत आरंभ करती है।]

गीत

सुभग कल्पना जगत् मुग्ध नयनों में।
नव विकास का हास खिला सुमनों में।
वासन्ती सौरभ कुसुमाकुल कुञ्जों में।
लघु नीड़ छिपा हो नव पल्लव पुञ्जों में।
युगल विहङ्गम सी प्राणों में ममता।
मिली न मानव जग में जिसकी समता।
गूँज उठे कलरव में एक कहानी।
चिर अभिन्न हों जीवन में युग प्राणी।

यवनिका

चौथा अंक

स्थान : कूची में कुमारायन और जीवा का कक्ष

समय : प्रातःकाल

[कक्ष लगभग उसी प्रकार का है जैसे कक्ष अब तक चले आते हैं। इस कक्ष में भी भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्त्ति है। इस समय जीवा इस मूर्त्ति की पूजा कर एक गीत गा रही है। जीवा का उदर भारी है, अतः जान पड़ता है वह गर्भवती है।]

गीत

हे चिर नूतन ! हे छबि धाम !
क्षण-भंगुर जगती में केवल तुम ही हो अभिराम।
पुरातन अचल शिला का भार
दबाता प्राणों का मधु-ज्वार;
शान्ति, मौन, संयम की शाला करती तन निष्काम।
मानवोचित दाक्षिण्य अपार
दयामय, तव शिक्षा का सार;
निठुर क्रूरता मानव मन की, धो देता तव नाम।
विगत संसृति के स्वप्न विकार,
विगत भय, रोग, भोग उद्‌गार,
कृपा-करुण दृग कोर, नियति की, हरती, द्रुत गति वाम।

[गीत पूर्ण होते-होते प्रतिमा का पूजन भी पूरा होता है।]

जीवा : तथागत, आपने...आपने मेरी अब तक कितनी...कितनी इच्छाएँ, अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ पूर्ण कीं। उच्च-कोटि की शिक्षा प्राप्त करना चाहती थी, वह ... वह प्राप्त हुई। जिसके प्रति आकर्षित हुई वह...वह उस आकर्षण का उपयुक्त...उपयुक्त पात्र था; और ... और कितना कठिन था उसका...उसका प्राप्त होना, पर...पर वह...वह भी प्राप्त हुआ और...और कैसा ... कैसा बीत रहा है यह वैवाहिक जीवन। सचमुच योग्य पुरुष के बिना नारी का जीवन क्या है ? और...और उसी प्रकार पुरुष का जीवन भी नारी के बिना क्या ? इसीलिए...इसीलिए तो प्रभात से निशा तक और...और निशा से प्रभात तक न मुझे अब ... अब उनके अतिरिक्त किसी की आवश्यकता है और ... और न उन्हें मेरे अति रिक्त किसी की। इस ... इस विवाह के पूर्व हम दोनों अधूरे थे। पर...पर अब हो गये हैं पूर्ण। इसीलिए... इसीलिए तो, देव, निसर्ग ने पुरुष और नारी द्वैत का निर्माण किया है। दो अधूरे मिलकर एक...एक पूर्ण होता है। कैसा ...कैसा प्रेम...अगाध प्रेम है हम दोनों का। न...न मैं उन्हें निरखते-निरखते अघाती और...और न...न वे मुझे। ... फिर हमारी बातें... बातें भी कभी समाप्त नहीं होतीं। ... कदाचित्...कदाचित् दो...दो सच्चे स्नेहियों के सम्भाषण के सदृश खुले हृदय का वार्त्तालाप सम्भव ही नहीं है। ... एक दूसरे में अपने को विलीन किये बिना कोई सच्चे प्रेमी हो नहीं सकते। और...और ऐसे स्नेहियों का सम्भाषण

जहाँ एक दूसरे के लिए चलता है, वहाँ...वहाँ अपने आपके लिए भी। ...फिर...फिर मुझे तो इस सम्भाषण में त्रिविध समीर का सुख मिलता है। जिस प्रकार वह समीर मन्द-मन्द चलता है...उस...उस प्रकार यह सम्भाषण भी। ...जिस... जिस प्रकार उस ... उस समीर से शीतलता प्राप्त होती है, उसी... उसी प्रकार इस सम्भाषण से। और ... और जिस प्रकार उस समीर में सुगन्ध रहती है उसी प्रकार इस...इस सम्भाषण में स्नेह की सुवास। फिर...फिर हमारा सम्भाषण केवल वाणी द्वारा ही नहीं चलता अनेक ... अनेक बार वह मूक भाषा में चलता रहता है। ..तथागत, प्रेम-पथ. .प्रेम-पथ ही कदाचित् ऐसा पथ है जिसके पथिक अपने पथ पर उसे सदा नवीन समझते हुए चल...चल सकते हैं। ... एक ही...एक ही बात को बिना ... बिना उसकी नवीनता नष्ट किए बार-बार कह सकते हैं। एक ही ... एक ही कृति को बिना...बिना ऊबे निरन्तर...निरन्तर कर सकते हैं। हमारे इस...इस प्रणय का... प्रादुर्भाव...प्रादुर्भाव हुआ था एक... एक दूसरे के दर्शन से। हमने...हमने सर्वप्रथम...सर्वप्रथम देखा था एक दूसरे के स्वरूप को। ... मन का मिलन इस ...इस आकर्षण के पश्चात् का सोपान था। ...एक दूसरे के तनों पर एक दूसरे का अधिकार हुआ, परिणय के पश्चात्। परन्तु ... परन्तु इस अधिकार के पश्चात् जान पड़ा कि यह आत्मा...आत्मा को समीप लाने का एक...एक साधन मात्र है। ...प्रेम और वासना का सबसे बड़ा...सबसे बड़ा अन्तर

कदाचित् यही...यही है। ... देहधारियों के लिए देह...देह को पृथक् रख नेह की उत्पत्ति और उत्पत्ति के पश्चात् उसका पोष तथा सन्तोष कदाचित् सम्भव नहीं है।...परन्तु...परन्तु, जहाँ स्नेह में शरीर साधन रहता है वहाँ वासना में वह साधन और साध्य दोनों ही हो जाता है। ... और ... और दिनों दिन किस...किस प्रकार बढ़ रहा है यह...यह प्रणय। और ... और इस प्रेम से कैसे ... कैसे अद्भुत विश्वास की उत्पत्ति हुई है। फिर ... फिर इस विश्वास ने किस...किस प्रकार कर दिया है और अधिक प्रेम को। ...प्रेम और विश्वास...विश्वास और प्रेम दोनों का कैसा अन्योन्य संबंध है। जितना...जितना यह बढ़ता जाता है, उतना ही गहरा भी हो जाता है। इस...इस प्रेम की उपमा कदाचित् ... कदाचित् उस...उस पौधे से दी जा सकती है जो जिस परिमाण में पृथ्वी के ऊपर अपनी शाखाएँ बढ़ाता है उसी ... उसी प्रकार पृथ्वी के भीतर अपनी जड़ें। फिर ... फिर यह प्रेम मानवों ... मानवों में ही हो सकता है, अन्य ... अन्य जीवों में नहीं। अन्य जीवों का जीवन अन्तर्प्रवृत्ति के अनुसार चलता है; मानवों का उनकी ... उनकी मेधा के अनुसार। प्रेम मस्तिष्क की वस्तु न हो हृदय की वस्तु है, पर उसी के साथ केवल अन्तर्प्रवृत्ति नहीं, उससे परे...कहीं परे। यह... यह यथार्थ में पवित्र है।...काम चेतना ... काम चेतना तो उसके साथ इसलिए ... इसलिए आ जाती है कि ... कि मानवों के भी शरीर तो है ही।...इसी...इसीलिए तो पत्नीत्व

का इतना...इतना महत्त्व है। इसी...इसी पत्नीत्व ने मुझे... मुझे, देव, पहुँचाया है जीवन ... जीवन रूपी शैल के उस ...उस उच्च और आलोकमय शिखर पर जहाँ मलीन मेघों की पहुँच...पहुँच नहीं रहती। और जहाँ हर साँस में पवित्र सुख की एक आलोकमय ज्योति निकलती है। और...और इस शिखर पर पहुँचने के पश्चात् हमारा ... हमारा सुख किसी ...किसी विशिष्ट वस्तु तक ही सीमित नहीं रहा है; वह...वह तो अब हमें हर विचार और हर कृति में मिलता है, उसका...उसका दायरा इतना...इतना विशाल हो गया है कि समस्त विश्व का उसमें समावेश...समावेश हो जाता है। कितना महान् है हमारे सुख का यह कोष! और फिर इस सारे कोष की कुञ्जी मेरे...मेरे पास। इस कोष में इतना सुख संचित है कि मैं उसे सारे संसार को बाँट सकती हूँ। **(कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा को देखने के पश्चात्)** देव, अब...अब मै पत्नीत्व से...पत्नीत्व से मातृत्व ... मातृत्व के सोपान पर चढ़ रही हूँ। जब से ... जब से ज्ञात हुआ है कि इस प्रणय रूपी पुष्प का फल निकलने वाला है, मैं ... मै नवीन...नवीन जीता-जागता निर्माण करने वाली हूँ, तब से...तब से तो एक नये सन्तोष...हाँ, सन्तोष का प्रादुर्भाव हुआ है। निर्माण से अधिक आनन्द देने वाली कदाचित् अन्य कोई ... कोई वस्तु नहीं। हर जीवित वस्तु किसी न किसी प्रकार का निर्माण करती ही है। उनसे अधिक कोई मन्दभागी नहीं जो अपनी निर्माण-शक्ति का अनुभव न करें।

फिर...फिर निर्मित की जाने वाली वस्तु यदि जीती-जागती हो तब तो ... तब तो पूछना ही क्या? (जब से यह ज्ञात हुआ है कि मेरे द्वारा एक जीते-जागते प्राणी का निर्माण होने वाला है तब से...तब से तो मेरे...मेरे आनन्द का पारावार...पारावार नहीं रहा है। कितनी ... कितनी आकर्षित करती है आजकल मुझे शुक्ल पक्ष...शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन ...प्रतिदिन बढ़ने वाली चन्द्र की कलाएँ। कितने...कितने भले जान पड़ते हैं, मुझे आजकल उठते...उठते हुए बादल। कितने ... कितने सुन्दर दीखते हैं मुझे आजकल कुसुमित और फलित तरु। निसर्ग ... निसर्ग यथार्थ में माता है, इसी ...इसीलिए माँ का पद नारी-जीवन की चरम परिणति है। और ... और इसीलिए मानव-जीवन में मातृत्व का पद सर्वोच्च पद है।..(मैं कुछ ... कुछ उत्पन्न करने वाली हूँ, यह भावना ही जब...जब इतनी सुखद...इतनी सन्तोषप्रद है तब ... तब उस उत्पत्ति के पश्चात् उसके दर्शन उसके निर्माण के प्रयास कितने आनन्ददायक, कितने सन्तोषकारक होंगे ?)(**कुछ रुककर चुपचाप प्रतिमा की ओर देखने के पश्चात्**) देव, उनकी और मेरी यह ... यह सन्तान तो हमारे... हमारे अनुरूप ही होनी चाहिए। ... हमारे जीवन रूपी मन्दिर के कलश...कलश के सदृश। ... उनका संकल्प था आपके द्वारा प्रतिदिन सद्धम्म की देश-देशान्तर में स्थापना। इसी... इसीलिए अपना ... अपना सारा राजसी वैभव त्याग वे भिक्षु हुए थे।...अपना घर-द्वार...हाँ, अपना

घर-द्वार छोड़ा था, अपना देश हाँ, वह पुण्यमयी भारत-भूमि छोड़ी थी। विवाह कर वे संकल्प-भ्रष्ट हुए हैं, यह...यह मैं ...मैं कदापि...कदापि मानने को प्रस्तुत नहीं...परिणय के पूर्व और परिणय के पश्चात् भी वही...वही संकल्प उनके दिवस की चिन्ता और रात्रि का स्वप्न रहता है। हमारी... हमारी यह सन्तान उस ... उस संकल्प को और अधिक साकार...और अधिक स्थायी रूप दे... यही...यही आप से प्रार्थना है। ... उसके द्वारा सारे संसार में सद्धम्म की दुन्दुभी निनादित हो उठे यही...यही मेरी अब एक ... एक मात्र अभिलाषा और आकांक्षा है।...जिस प्रकार, तथागत, आपने अब तक मेरी... मेरी सारी इच्छाएँ पूर्ण कीं क्या ... क्या उसी प्रकार...उसी प्रकार यह इच्छा भी पूर्ण न होगी?

[कुमारायन का प्रवेश। अब वह भिक्षु वेष में नहीं है। सिर के बाल बढ़ गये हैं। पीत-चीवर के स्थान पर कौशेय-वस्त्र आगये हैं, आभूषण भी धारण हैं। वह वैसा ही दिखता है जैसा उपक्रम के समय था।]

कुमारायन : (मुस्कराते हुए) इस विश्व में दो प्रकार के मानव होते हैं, प्रिये, जानती हो ? **(एक आसन्दी पर बैठता है।)**

जीवा : (कुमारायन का शब्द सुन उसकी ओर बढ़ उसी के निकट की दूसरी आसन्दी पर बैठते हुए) किस प्रकार के ?

कुमारायन : (उसी प्रकार मुस्कराते हुए) एक भाग्यशाली और दूसरे अभागे।

जीवा : **(मुस्कराते हुए)** मैं प्रथम प्रकार के मानवों में हूँ। क्यों ?

कुमारायन : इसमें भी क्या कोई सन्देह है? जो चाहती हो, तत्काल होता है, असम्भव भी सम्भव होकर। (भिक्षु को गृहस्थ बना डाला, यह भी ऐसे-वैसे पाखण्डी, प्रपञ्ची भिक्षु को नहीं, पर सच्चे भिक्षु को) फिर चाहा सन्तान हो उसमें भी विलम्ब न लगा।

जीवा : **(मुस्कराते हुए)** ईर्ष्या तो तुम्हें तब होनी चाहिए, प्रियतम, जब तुम मुझसे कम भाग्यशाली हो।

कुमारायन : **(कुछ विचारते हुए गंभीरता से)** तुम समझती हो मैं भी तुम्हारे सदृश भाग्यशाली हूँ?

जीवा : **(गंभीरता से)** क्यों, तुम्हें इसमें सन्देह है?

कुमारायन : **(उसी प्रकार गंभीरता से)** देखो, प्रिये, साधारण मानवों को यदि हम छोड़ दें और कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को लें तो इन विशिष्ट व्यक्तियों में किसी के जीवन का कोई उद्देश्य होता है और किसी के जीवन का कोई। अनेक बार ये उद्देश्य एक दूसरे के ठीक विपरीत होते हैं। दृष्टान्त के लिए एक चाहता है अखिल विश्व का साम्राज्य और दूसरा पैरों में लोटते हुए साम्राज्य से छुटकारा। अतः भाग्यशाली वह कहा या माना जा सकता है जिसकी अपनी चाह पूर्ण हो।

जीवा : तो तुम अपने को इसलिए भाग्यशाली नहीं मानते कि कूची आने के पश्चात् तुम्हें जो कुछ करना पड़ा वह तुम्हारी

इच्छा के प्रतिकूल था ?

कुमारायन : यहाँ मैंने जो कुछ किया वह मुझे करना नहीं पड़ा है, मैंने स्वयं किया है। परन्तु...परन्तु इतने पर भी **(चुप हो जाता है।)**

जीवा : **(कुमारायन की ओर देखते हुए)** चुप क्यों हो गये; आगे बढ़ो।

कुमारायन : **(जीवा की ओर प्रेम भरी चितवन से)** देखो, प्रिये, एक बात के लिए मैं अपने को भाग्यशाली...परम सौभाग्यशाली मानता हूँ कि तुम्हारे सदृश मुझे पत्नी मिली। फिर इस परिणय के पश्चात् जो प्रेम मैंने पाया, इस विश्व में वह विरल व्यक्ति को ही मिलता है। परन्तु मैंने अपने जीवन को जिस पथ पर चलाना चाहा था उससे मेरा वर्त्तमान जीवन ठीक विपरीत है, इसे तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और...और जीवन को जिस पथ पर मैंने चलाना चाहा था वह पथ ठीक नहीं था, यह मेरा मन अब तक भी स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है।

जीवा : जिस दिन रात्रि को अचानक आकर तुमने मेरी बातें सुनी थीं उस दिन और फिर जिस दिन मैंने प्रयत्न कर तुम्हारी भावनाओं को जानना चाहा था, उस दिन मैंने तुम से एक बात कही थी, वह तुम्हें स्मरण है ?

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : मैंने तुम से कहा था कि मैं भारत के वैदिक धर्म की आश्रम-व्यवस्था को मानने वाली हूँ। जीवन में गृहस्थ-

आश्रम और संन्यास आश्रम दोनों का स्थान है। हम दोनों जब एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हुए तब मैं कुमारी थी और तुम भी कुमार। अन्तर इतना ही था कि मैं भिक्षुणी नहीं हुई थी तुम भिक्षु हो गये थे। मैंने तुम से एक बात और भी कही थी।

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : आकर्षण और प्रत्याकर्षण निसर्ग का एक स्वाभाविक नियम है। तुम भिक्षु तो हो गये, परन्तु उस समय भिक्षु होना तुम्हारे लिए एक अस्वाभाविक बात थी। अतः तुमने अपने पर ही जो बलात्कार किया था उसका तुम्हीं को परिमार्जन करना पड़ा।

कुमारायन : हाँ, मैंने स्वयं कहा भी कि कूची आकर जो कुछ मैंने किया वह मुझे करना नहीं पड़ा है, मैंने स्वयं किया है।

जीवा : पर मैं यह जानती हूँ कि जो कुछ तुमने किया उसकी कसक सदा तुम्हारे मन में रही है और वह कसक तुम्हें समय-समय पर व्यथित करती रही है।

कुमारायन : (दीर्घ निःश्वास छोड़कर) क्या कहूँ ?

जीवा : तुम्हारी यह कसक भी मैं समय पर मिटाने वाली हूँ।

कुमारायन : (प्रसन्नता से) कैसे ?

[प्रतिहारी का प्रवेश।]

प्रतीहारी : (अभिवादन कर कुमारायन से) आर्य, भारत से आपके माता-पिता का रथ समय के पूर्व ही पहुँच गया। स्वागतार्थ नगर-सीमा पर महाराज आपको लेकर पधारने

वाले थे पर अब तो वे स्वयं ही सीधे यहीं पधार रहे हैं।

कुमारायन : (शीघ्रता से जीवा से) चलो, कम से कम कक्ष के बाहर तक चलकर तो हम उनका स्वागत कर लें।

[तीनों का शीघ्रता से प्रस्थान। सुगतभद्र और उत्पलवर्णा तथा मैत्रेयनाथ और भद्रांगी के सहित कुमारायन और जीवा का पुनः प्रवेश। सुगतभद्र और उत्पलवर्णा के शरीर पर आज कोई आभूषण नहीं है, वे श्वेत वस्त्र धारण किये हुए हैं। मैत्रेयनाथ अधेड़ अवस्था का गेहुँए रंग का ऊँचा-पूरा दोहरे शरीर का व्यक्ति है। कौशेय के वस्त्र पहने हुए है। स्वर्ण के रत्नजटित आभूषण भी धारण हैं। भद्रांगी की अवस्था मैत्रेयनाथ से थोड़ी कम है। उसका वर्ण गौर है। प्रौढ़ावस्था में भी वह सुन्दर दिख पड़ती है। वह कौशेय की साड़ी पहने है और कौशेय का ही एक वस्त्र वक्षःस्थल पर बाँधे है। इन वस्त्रों पर सुनहरी काम है। उसके अंगों पर भी सुवर्ण के रत्नजटित आभूषण हैं।]

कुमारायन : (अपने पिता से) आप...आप कैसे हो गए, तात ! और **(माता की ओर देख)**...और आप भी कैसी हो गयीं माता जी; फिर आपका यह वेश !

सुगतभद्र : तुम्हारे वियोग में तुम हम लोगों के लिए क्या और कोई आशा करते थे? और अपनी माता के वेश के संबंध में तुमने खूब ही पूछा ! जिस दिन तुमने भिक्षु होकर बिदा ली उसी दिन से तुम्हारी माता भिक्षुणी होने के सिवा भिक्षुणी के सारे धर्मों का पालन कर रही हैं।

भद्रांगी : माता से और क्या करने की आशा की जा सकती है ?

मैत्रेयनाथ : अच्छा, अब सब सुख से बैठें और फिर वार्तालाप हो।

[**सब लोग आसन्दियों पर बैठ जाते हैं।**]

सुगतभद्र : (भद्रांगी से) महादेवी, आप ठीक कहती हैं (इकलौते पुत्र के भिक्षु होने के पश्चात् माता और क्या कर सकती थी? इन्होंने अपना वेष बदला यही नहीं, मुझे प्रेरित किया समस्त सम्पत्ति के दान करने के लिए और...और कुमारायन के जन्म के पश्चात् इन्होंने कुमारायन के उपयोग के लिए, इसके सुख के लिए, जिन अगणित वस्तुओं का संग्रह किया था वे भी बाँट दीं उपयुक्त पात्रों को।)

कुमारायन : (आश्चर्य से) अच्छा !

उत्पलवर्णा : (कुमारायन से) (तुमने 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही तो 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'धम्मं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि' का पाठ कर संन्यास लिया था। मेरे इकलौते पुत्र के भिक्षु होने के पश्चात् उस सब सम्पत्ति, उस सब संग्रह का भी 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही समर्पण स्वाभाविक नहीं था ?)

सुगतभद्र : (मैत्रेयनाथ से) इसीलिए, महाराज, जब आपने कुमारायन के विवाह का संवाद भेजा, तब हम यहाँ आ न सके, क्योंकि हमारे पास ऐसी कोई वस्तु बची ही न थी जिसे हम अपनी राजपुत्री पुत्रवधू के लिए उपहार में लाते।

भद्रांगी : (अश्रुपूरित नेत्रों से) ओह! ...ओह!

उत्पलवर्णा : (और विवाह के पश्चात् भी हम अपने इस पुत्र को पुत्रवधू के साथ बुला न सके, क्योंकि हम अपना निवास-

स्थान भी दे चुके थे और जिन कुटियों में हम रहते हैं वह न राजा के जामात्र के योग्य हैं और न राजपुत्री पुत्रवधू के योग्य।

मैत्रेयनाथ : त्याग की यह पराकाष्ठा है।

सुगतभद्र : (जीवा के पिता से) पर...पर एक बात जानते हैं, महाराज, ?

मैत्रेयनाथ : कौनसी ?

सुगतभद्र : यह त्याग विराग के कारण नहीं हुआ।

मैत्रेयनाथ : तब ?

सुगतभद्र : पुत्र के राग के कारण।

भद्रांगी : इसे महाराज कदाचित् पूर्ण रीति से न समझ सकेंगे; मैं समझती हूँ।

उत्पलवर्णा : हाँ माता का हृदय वही समझ सकता है जो स्वयं माता है।

सुगतभद्र : इसीलिए, जब संवाद आया कुमारायन के विवाह का, उसके भिक्षु से पुनः गृहस्थ होने का, आनन्द के अतिरेक में जो दशा कुमारायन की माता की हुई वह वर्णनातीत है।

कुमारायन : माता न होते हुए भी मैं उस दशा का अनुमान कर सकता हूँ।

सुगतभद्र : और... और, महाराज, जब आपने यह संवाद भेजा कि आपके दौहित्र होने की भी तैयारी है तब ... तब तो कुमारायन की माता कूची आने से अपने को रोक न सकीं।

उत्पलवर्णा : हम अकिञ्चन आपके जामात्र और आपकी पुत्री

को बुला तो न सकते थे पर यहाँ आ तो सकते ही थे।

जीवा : (उत्पलवर्णा से) माता जी, आप और **(सुगतभद्र की ओर संकेत कर)** पिता जी, बार-बार यह क्या कह रहे हैं ! (यथार्थ में मेरा घर तो अब यह राजप्रासाद नहीं, भारत देश में वह कुटी ही है जहाँ आपका निवास है)

कुमारायन : निस्सन्देह; और...और मुझे तो उस कुटी के निवास में आपके पुराने प्रासाद की अपेक्षा कहीं···कहीं अधिक सुख और आनन्द का अनुभव होगा।

[कुछ देर निस्तब्धता।]

उत्पलवर्णा : (भद्रांगी से) महादेवी, आपने और **(मैत्रेयनाथ को संकेत कर)** महाराज ने हम पर जो उपकार किया है, उस उपकार के ऋण से क्या हम कभी उऋण हो सकते हैं ?

मैत्रेयनाथ : तब तो मैं एक दूसरी बात कहूँगा ; आपने अपने पुत्र को पहचाना ही नहीं।

भद्रांगी : हाँ, कदाचित्, हमने अपने जामात्र को अधिक जाना है।

[एक विनोदपूर्ण अट्टहास।]

मैत्रेयनाथ : हमें क्या कभी कुमारायन से अच्छा जामात्र मिलना संभव था ?

भद्रांगी : (उत्पलवर्णा से) कुमारायन आपके इकलौते पुत्र हैं, जीवा हमारी इकलौती कन्या। अतः जितनी आपको कुमारायन की चिन्ता थी हमें जीवा की उससे कम नहीं। जीवा को क्या इनसे अच्छा पति प्राप्त हो सकता था ?

[**जीवा कनखियों से कुमारायन को देखती है। कुमारायन सिर झुका लेता है।**]

मैत्रेयनाथ : और आज के इस आनन्द के अवसर पर एक गुप्त भेद और बताऊँ ? जीवा के लिए हम योग्य वर ढूँढ रहे थे। जब कुमारायन कूची में आये और इनकी विद्वत्ता के कारण इनकी यश-पताका कूची राज्य की राज्य-पताका से भी कहीं ऊँची फहरायी, इनके राजगुरु-पद पर प्रतिष्ठित होते ही मेरे मन में उठा कि कुमारायन कहीं मेरे जामात्र हो सकते ?

भद्रांगी : हाँ, इन्होंने मुझ से यह कहा भी । पर मैं तो इनकी कल्पना पर हँस पड़ी; भिक्षु-जामात्र !

[**फिर एक विनोदपूर्ण अट्टहास।**]

भद्रांगी : आज हम से अधिक कौन सुखी है ? कहा जाता है न, कन्या से अधिक जामात्र प्रिय होता है। मैं तो अब इस सत्य को अनुभव कर रही हूँ।

उत्पलवर्णा : और...और मुझे...मुझे तो यह भी नहीं भासता कि हमारा यह सुख किसी प्रकार भी 'बहुजन हिताय; बहुजन सुखाय' के विरुद्ध जाता है।

[**नेपथ्य में एक गान होता है। सब का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।**]

गीत

पल रहा सुख आज मेरा विश्व के करुणा भवन में।
लोचनों में नीर के कण, उमड़ता आह्लाद मन में।

युग युगों की यवनिका को पार करती दृष्टि मेरी।
चेतना को घेर छायी निठुर जड़ता की अँधेरी।
अस्त्र हिंसा क्रूर-कर गत, उदर-रत उत्क्रुद्ध पशु-सम
विषय कानन में भटकता, मनुज, जीवन, घोर निर्मम।
हे महामानव ! निबल का सुन विकल आह्वान तुमने
सुप्त मानवता जगायी, दे दया का दान तुमने।
शान्त लोचन-युग्म से, झरती सतत कारुण्य धारा।
गगन सा सीमा रहित, औदार्य-मय अन्तर तुम्हारा।
तप्त जगती के असंख्यक मानवों के प्राण हो तुम।
भव-उदधि में मग्न होती भावना के त्राण हो तुम।

यवनिका

पाँचवाँ अंक

स्थान : भारत में सुगतभद्र की कुटी

समय : उषःकाल

[कुटी के तीन ओर की भित्तियाँ दिखायी देती हैं। ये भित्तियाँ कच्ची मिट्टी की हैं, यह इनके देखने से ज्ञात हो जाता है। दोनों ओर की भितियों में दो द्वार हैं। द्वारों की चौखटें बाँस की हैं और उनमें टट्टे के कपाट हैं। भित्तियों पर कुछ रंगीन चित्रकारी है। कुटी की छावनी फूस की है और कुटी की भूमि पर चटाई बिछी है। एक ओर भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति है। मूर्त्ति के सामने एक काष्ठ के पटे पर पूजा की सामग्री रखी है। कुमारायन और जीवा के पुत्र कुमारजीव की आज दसवीं वर्ष-गाँठ है। अतः सारी कुटी कदली-वृक्षों, पत्र-पुष्पों की बन्दनवारों आदि से सजायी गयी है। कुटी का सारा दृश्य अत्यन्त स्वच्छ और सुन्दर है। जीवा कुमारजीव से बुद्ध प्रतिमा की आरती करा रही है। आरती के साथ वह गाती भी जाती है और उसके गीत की एक-एक पंक्ति कुमारजीव दुहराता जाता है। कुमार-जीव गौर वर्ण का सुन्दर बालक है। कौशेय के वस्त्र पहने है। परन्तु न उसके शरीर पर कोई भूषण है और न जीवा के।]

गीत

सघन ध्वान्त, पथिक क्लान्त
पथ में अलसाया।

रुद्ध ज्ञान, बुद्धि म्लान
भान भी भुलाया।
संसृति का श्रम अनन्त मोह भ्रान्ति लाया।
विगत शाप, विगत ताप,
निर्मल मन काया।
'बहु हिताय, बहु सुखाय'
त्यक्त विश्व-माया।
धन्य धरा चरण परस अमित श्रेय पाया।
मनुज अज्ञ, चिर कृतज्ञ,
विनत शरण आया।
दंभ द्वेष, कर अशेष
शान्ति में समाया।
हे महान्! करो दान, करुणा की छाया।

जीवा : (गीत पूर्ण होने पर) बेटा कुमारजीव, आज तुम्हारी दसवीं वर्षगाँठ है। उषःकाल के इस शुभ मुहूर्त्त में स्नानादि से निवृत्त हो भगवान् बुद्ध का पूजन ही तुम्हारा आज का प्रथम कार्य था।

कुमारजीव : वह पूजन आपने विधिवत् करा दिया, माताजी।

जीवा : नौ वर्ष की आयु में ही, तुमने ऐसा ज्ञान प्राप्त किया है जो वयस्क होने पर भी विरलों को प्राप्त होता है।

कुमारजीव : इसका श्रेय तो मुझे न होकर आपको और पिताजी को ही है। आप अनेक बार कहती ही हैं कि मुझे तो गर्भावस्था से ही आपने पंडित बनाने का प्रयत्न किया है।

जीवा : परन्तु, प्रकृति ने यदि तुम्हें प्रचक्षण बुद्धि न दी होती तो तुम्हारे पिता का और मेरा यह प्रयत्न कभी सफल होना संभव था ? अभी तुम्हारी उच्च शिक्षा शेष है, परन्तु अब तुम बहुत कुछ जानने-समझने लगे हो। अपनी दसवीं वर्ष-गाँठ के इस शुभ अवसर पर प्रार्थना करो, भगवान् तथा-गत से जो कुछ भी होना चाहते हो उसके लिए।

[**कुमारजीव बौद्धप्रतिमा की ओर ध्यान लगाकर देखते हुए हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है।**]

कुमारजीव : भगवन् ! मेरी माता ने गर्भावस्था से ले आज पर्यन्त और मेरे पिता ने जब से मुझे सुधि हुई तब से लेकर अब तक मुझे जो ज्ञान और शिक्षा दी है, उसका उपयोग मैं 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' करूँ। जीवन के इस पथ पर निर्भीक हो साहस के साथ अपना सर्वस्व त्याग कर चलूँ, शिक्षा पूर्ण होते ही मैं भिक्षु बनूँ...

जीवा : (**घबराकर बीच ही में रोक**) क्या-क्या प्रार्थना कर रहा है, बेटा ! शिक्षा पूर्ण होते ही बिना गृहस्थ हुए भिक्षु !

कुमारजीव : (**बौद्ध प्रतिमा की ओर से दृष्टि हटा जीवा की ओर देख**) माता जी, यह प्रार्थना के बीच में आपने कैसा विघ्न कर दिया ?

जीवा : पर, बेटा, जन्म-दिन के इस शुभ अवसर पर तू अनुचित वर माँग रहा था; फिर आज तेरी साधारण वर्षगाँठ नहीं है। दसवें वर्ष से पौगण्ड अवस्था का प्रारम्भ होता है जिस अवस्था से बालक का वयस्क होना आरम्भ होता है। उस

...उस जन्म दिन पर...यह वर !

कुमारजीव : परन्तु, माता जी; मैं प्रार्थना सोच-सोच कर नहीं कर रहा था, वह तो आत्मा की प्रेरणा थी जो अपने आप मेरे मुख से निकल रही थी। आपने अभी कहा था न, नौ वर्ष की अवस्था मे मुझे ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ है जो विरलों को ही प्राप्त होता है। आप यह भी कहा करती हैं, मानव विकास करते-करते अनेक जन्मोपरान्त सच्चा मानव बन पाता है। आपने आज्ञा दी मे भगवान् तथागत से प्रार्थना करूँ अपनी इस दसवीं वर्षगाँठ पर जो कुछ मैं होना चाहता हूँ, उसके लिए। और जब मै प्रार्थना करने लगा तब आपने मुझे बीच ही में रोक दिया।

[कुमारायन का प्रवेश। वह भिक्षु वेश में तो नहीं है, परन्तु उसके शरीर पर भी कोई आभूषण नहीं है।]

जीवा : (कुमारायन को देख कुमारजीव से) लो, बेटा, तुम्हारे पिता आगये। दसवीं वर्षगाँठ पर उन्हें भी प्रणाम करो।

[कुमारजीव आगे बढ़ कुमारायन के पैरों में सिर रखता है।]

कुमारायन : (कुमारजीव के सिर पर हाथ रखते हुए) चिरजीवी हो वत्स! 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' संसार में तुम्हारे द्वारा सद्धम्म की दुन्दुभी बजे।

जीवा : परन्तु, शिक्षा पूर्ण होने पर प्रथम गृहस्थ हो, अपनी परम्परा प्रतिष्ठित रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति कर उसे योग्य बनाने के उपरान्त भिक्षु होकर, शिक्षा पूर्ण कर बिना गृहस्थ हुए तुरन्त भिक्षु होकर नहीं।

कुमारायन : (कुछ आश्चर्य से) यह कैसा विवाद है ?

जीवा : (एक आसन पर बैठते हुए) भगवान् तथागत के पूजन के पश्चात् मेने इससे कहा—अपनी इस दसवीं वर्षगाँठ पर भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करो जो कुछ होना चाहते हो उसके लिए। और इसने प्रार्थना की कि शिक्षा पूर्ण होते ही 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' तुरन्त भिक्षु होने की। यह, नाथ, कैसी अस्वाभाविक वायु चल रही है, सद्धम्म में इस समय ? सहस्रों की संख्या में बालक और युवक, बालिकाएँ और युवतियाँ भिक्षु-भिक्षुणी हो रही है। परन्तु निसर्ग के नियमों से तो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान पंच स्कंधों का यह शरीर अप्रभावित नहीं रह सकता। केवल आवेश में आकर जो बात की जाती है। उसमें स्थायित्व नहीं रह पाता। बालक-बालिकाओं, युवक-युवतियों के इस प्रकार भिक्षु-भिक्षुणी होने से सद्धम्म के विहारों, संघारामों में जो भ्रष्टाचार होने के समाचार सुनायी देने लगे हैं, उनसे उन भिक्षु-भिक्षुणियों के ही जीवन नष्ट नहीं हो रहे हैं पर 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' ही भिक्षु-भिक्षुणी होकर जो अपना जीवन न्यौछावर कर रहे है, उनका उद्देश्य भी पूर्ण नहीं हो रहा है। मेरा निश्चित मत है कि यह अस्वाभाविक कार्य सद्धम्म के विकास और प्रचार में आगे चलकर सबसे बड़ी बाधा सिद्ध होगा। कुमारजीव के जीवन पर इसी वायुमण्डल का प्रभाव है। इसीलिए बिना समझे-बूझे यह भगवान् तथागत

से अपने भावी जीवन को एक अस्वाभाविक रीति से चलाने के लिए इस प्रकार की प्रार्थना कर रहा था।

कुमारायन : (जो जीवा के आसन पर बैठते ही स्वयं भी एक दूसरी आसन्दी पर बैठ गया था और जिसने कुमारजीव को अपनी गोद में बिठा लिया था) यह, जीवा, तुमने एक बालक के सामने बड़ा विवादग्रस्त विषय छेड़ दिया।

जीवा : मैं जानती हूँ। इस संबंध में तुम्हारा और मेरा मतैक्य नहीं है।

कुमारजीव : पाठशाला का समय हो रहा है, क्या मैं चलूँ ?

जीवा : हाँ, आज जन्म-दिवस पर तुम्हें पाठशाला में समय के कुछ पूर्व पहुंच गुरु की पद-वन्दना भी करनी चाहिए।

[कुमारजीव का प्रस्थान। कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : लगभग दस वर्ष हुए तुमने जो एक बात कही थी और जिसके स्पष्टीकरण की अनेक बार प्रार्थना करने पर भी अब तक उसका स्पष्टीकरण नहीं किया, कुमारजीव की इस दसवीं वर्षगाँठ के दिन क्या मैं उसके स्पष्टीकरण की आशा करूँ ?

जीवा : (मुस्कराकर) वही तुम्हारी कसक को समय पर मिटाने वाली बात।

कुमारायन : हाँ, वही।

जीवा : (कुछ विचारते हुए) हाँ, मैं समझती हूँ अब उसके स्पष्टीकरण का समय आ गया है। **(कुछ रुककर)** प्रियतम, तुम जानते हो आश्रम-व्यवस्था में मेरी अकाट्य और अडिग

आस्था है। मैं संन्यास के विरुद्ध नहीं हूँ। परन्तु समय पर ; और विरुद्ध नहीं इतना ही नहीं समय पर में उसे आवश्यक मानती हुँ। तुन्हारी भारतीय संस्कृति मैं दो ही प्रकार की मृत्युएँ महान् मानी जाती हैं। एक युद्ध में योद्धा की आहुति और दूसरी उचित अवस्था में संन्यास ले लोक-कल्याण करते हुए संन्यासी की समाधि। मै इससे सहमत हूँ। भारत देश में बड़े-बड़े चक्रवर्ती नरेश भी जीवन के सन्ध्या-काल में राजपाट छोड़ वन-गमन करते थे। मृत्यु तक व्यक्ति आधिभौतिक वस्तुओं से चिपटा रहे इसे मैं नारकीय मानती हूँ।

कुमारायन : मैं तुम्हारे मत से भली भाँति परिचित हूँ।

जीवा : (मुस्कराकर) परन्तु, मेरे मत से सहमत नहीं।

कुमारायन : हाँ, तुम्हारे कुछ मतों से मैं सहमत तो नहीं हूँ।

जीवा : पर, अब असहमति का समय निकल गया। जब सहमत नहीं थे, उस समय मेरे मत के अनुसार चले और अब तुम अपने मत के अनुसार चलो इस में मुझे कोई बाधा न होगी जिन्हें कदाचित् अभी भी बाधा होती वे तुम्हारे माता-पिता और मेरे भी माता-पिता अब संसार में नहीं रहे।

कुमारायन : (प्रसन्नता से) तो अब मुझे अपने पूर्व संकल्पित भिक्षु-पथ में प्रवृत्त होने की तुम सहर्ष अनुमति दोगी ?

जीवा : इतना ही नहीं, नाथ।

कुमारायन : तब ?

जीवा : मैं स्वयं भी उसी पथ की पथिक बनूंगी।

कुमारायन : (और भी प्रसन्नता से) अच्छा!

जीवा : मैं सद्धम्म के आर्यधर्म की भी उपासिका हूँ। सद्धम्म को मैं आर्यधर्म का ही एक रूप मानती हूँ। आर्यधर्म में जो दोष आ गये थे उनकी निवृत्ति के लिए भगवान् पुनः बुद्ध रूप में अवतीर्ण हुए और उन्होंने उन दोषों का निवारण किया।

कुमारायन : हाँ, यह तो सत्य है।

जीवा : आर्यधर्म में सब वर्णों को समान अधिकार नहीं था, स्त्रियों को समानाधिकार नहीं था, भगवान बुद्ध ने वह दिया। आर्यधर्म में स्त्रियाँ संन्यासिनी नहीं हो सकती थीं; सद्धम्म में यदि पुरुष भिक्षु हो सकते हैं तो स्त्रियाँ समान रूप से भिक्षुणी। अब मैं भिक्षुणी-धर्म ग्रहण करूँगी।

कुमारायन : इसके लिए तुम अब परिपक्व समय मानती हो।

जीवा : हाँ, मैंने कई बार कहा, फिर कहती हूँ, अस्वाभाविक बात नहीं चलती। संन्यास भी समय पर स्वाभाविक हो सकता है। पत्नीत्व में मैंने अपूर्व प्रेम पाया; मातृत्व के उच्चतम सोपान पर मैं चढ़ी। सृष्टि की अबाधित गति चलती रहे इसलिए भारतीय संस्कृति का एक नियम है कि वह व्यक्ति मोक्ष तक का अधिकारी नहीं होता जो सन्तानोत्पत्ति कर पितृ ऋण से उऋण नहीं होता। हमारे साहचर्य से कुमारजीव के सदृश पुत्र की उत्पत्ति हुई। उसका ठीक प्रणाली से लालन-पालन हुआ, शिक्षा भी। उच्च शिक्षा शेष है, वह मैं उसे भिक्षुणी होकर कश्मीर में प्रसिद्ध विद्वान्

बन्धुदत्त से दिलाऊँगी। कश्मीर इस समय इस देश का मुख्य प्रमुख शिक्षा-केन्द्र है। और...और प्रयत्न करूँगी कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वह भी पहले गृहस्थ हो। तुम्हारे कार्यों की शृङ्खला कुमारजीव के कारण न टूट पायेगी। उसके कार्यों को शृङ्खला न टूटे इसके लिए उसे भी तो सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है। इस प्रकार तुम अब अपने संकल्पित पथ पर चलने के लिए मुक्त होगे। और...और एक बात हृदय से निकाल दो, यह भी मैं कहना चाहती हूँ।

कुमारायन : कौनसी ?

जीवा : यह कि तुम पथभ्रष्ट हुए थे। देखो, प्रियतम, तप के पश्चात् भोग और भोग के पश्चात् तप के क्या भारतीय इतिहास में अनेक दृष्टांत नहीं हैं ? ब्रह्मचर्य के अनन्तर अनेक ऋषि-महर्षियों ने तप किया। तप के पश्चात् इनमें से भी अनेक ने विवाह किए। तुम्हारा भिक्षु होना मैं एक प्रकार का तप मानती हूँ। और इस तप के अनन्तर विवाह तथा सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् पुनः भिक्षु के निर्णय से मुझे उसी प्रकार के एक भारतीय प्राचीन युग्म का स्मरण हो आता है।

कुमारायन : किस युग्म का ?

जीवा : महर्षि कर्दम और देवहूति का। तप के पश्चात् कर्दम ने देवहूति से विवाह किया। एक विमान की रचना कर ऐसा विहार किया जैसा विरल व्यक्तियों ने ही कर पाया होगा। उनके साहचर्य से भगवान् ने कपिलदेव के रूप में अवतार ग्रहण किया और अपने पुत्र को शिक्षित करने के उपरान्त

महर्षि कर्दम पुनः तप करने चल दिये। उस युग्म और हमारे युग्म की कृति में एक ही अन्तर होगा।

कुमारायन : कौनसा ?

जीवा : आर्यधर्म में स्त्रियों को संन्यास का अधिकार न था। अतः माता देवहूति संन्यासिनी न हो सकीं। वे पुत्र पर आश्रित रहीं और उन्हें तारा कपिलदेव ने। सद्धम्म में स्त्रियों के वे ही अधिकार हैं जो पुरुषों के। अतः जो देवहूति न कर सकीं वह मैं करूँगी। मैं भी भिक्षुणी होऊँगी। मैं कुमारजीव पर आश्रित रहने वाली नहीं। मैं आर्यधर्म की उस उक्ति को हीं नहीं मानती जिसमें कहा गया है, नारी बाल्यावस्था में पिता, युवा अवस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र पर आश्रित रहती है।

कुमारायन : (**मुस्कराकर**) हाँ, तुम पिता पर कब आश्रित रहीं ? जिससे चाहा विवाह किया और मैं तो तुम्हारे आश्रित रहा हूँ, भला तुम कभी पुत्र पर आश्रित रहने वाली हो !

जीवा : तुम मुझ पर आश्रित रहे ?

कुमारायन : इसमें कोई सन्देह है !

जीवा : नहीं; नहीं; यह मिथ्या बात है। यथार्थ में मैं तुम पर आश्रित रही हूँ और भिक्षुणी होने पर भी तुम्हीं पर आश्रित रहूँगी (**अश्रुपूरित नेत्रों से**) प्रियतम, जिस दिन, जिस घड़ी, जिस पल तुम्हारे दर्शन हुए, मेरा सारा जीवन तुम पर आश्रित हो गया। तुम्हारा स्नेह, तुम्हारा प्रेम, तुम्हारा प्रणय ही मेरे जीवन का संबल रहा है। मेरे जीवन के सारे

सुख और सारी स्फूर्त्ति के केन्द्र तुम्हीं रहे हो। और मेरे हृदय...हृदय ही नहीं आत्मा में तुम्हारा रूप प्रतिष्ठित है, वही...वही मेरे भावी जीवन का भी आश्रय रहेगा।

कुमारायन : **(आँखों में आँसू भरकर)** तुम...तुम, प्रिये, मुझे पत्नी के रूप में नहीं, अब तो...अब तो जान पड़ता है तुम मुझे मेरी सच्ची पथ-प्रदर्शिका, सच्ची गुरु के रूप में मिली हो। तुम्हारे...तुम्हारे सदृश पत्नी पाकर मेरा जीवन सफल...सफल हो गया...सार्थक हो गया। मैं धन्य...धन्य हूँ। मेरे सदृश इस विश्व में विरले ही धन्य होंगे।

[कुछ देर निस्तब्धता।]

कुमारायन : विदा की इस वेला में क्या कोई ऐसा गान न होगा जो हमारे भावी जीवन में हमें सदा स्फूर्त्ति देता रहे।

जीवा : अवश्य, अवश्य होगा। हम क्या रो-धोकर एक दूसरे से विदा लेंगे। **(गाती है।)**

गीत

लो विदा विगत के मधु सुन्दर !
उलटी गगरी की लघु बूँदें, बरसें नयनों से झर-झर।
हो निरभ्र ढलता दिनमान,
रवि, शशि दीपित गगन वितान,
नव प्रकाश कणिकागण पूरित भावी का उन्मुक्त विधान।
स्नेह-शोक-जय, राग द्वेष क्षय,
लोभ, मोह, मद विगत दंभ भय
मिल मानस की लहरों का अवसित हो चिरपतनोत्थान।

जीवा : (गीत पूर्ण होने पर) तुम्हारे सहवास में मैंने सच्चे जीवन का दर्शन किया है। सारे विश्व का किसी एक व्यक्ति में संमावेश और फिर उसी व्यक्ति का सारे विश्व में दर्शन ही सच्चा जीवन-दर्शन है। अब हमारे जीवन का आदर्श हो—न उत्पाद है न उच्छेद, न निरोध है न शाश्वत, न एकार्थ है न नानार्थ, न आगम है न निर्गम।

कुमारायन और जीवा : (भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के सम्मुख जा एक साथ)

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।
बुद्धं शरणं गच्छामि।
धम्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

यवनिका

उपसंहार

स्थान : चीन की राजधानी में कुमारजीव के
सङ्घाराम का एक विशाल कक्ष

समय : सन्ध्या

[कक्ष के तीन ओर की भित्तियाँ दिखती हैं, जिन पर भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं के अनेक चित्र बने हैं, परन्तु इन चित्रों में बुद्ध के आनन के अवयव चीनियों के समान हैं। कक्ष की छत काष्ठ के स्तम्भों पर है और कक्ष की भूमि पर रंग-बिरंगी चीनी चटाई है। चटाई पर कुछ आसन रखे हुए हैं। कुमारजीव एक आसन पर बैठा हुआ ध्यानपूर्वक लिख रहा है। उसके चारों ओर अनेक पोथियाँ दिखायी देती हैं; कुछ बस्तों में बँधी हुई और कुछ खुली। उसकी अवस्था लगभग चालीस वर्ष की है। यद्यपि वह युवावस्था को पार कर चुका है तथापि देखने में युवावस्था के लक्षण अभी भी उसके मुख और शरीर पर से विलुप्त नहीं हुए हैं। उसका वर्ण गौर है और मुख तथा शरीर अत्यन्त सुन्दर। सिर घुटा हुआ है और वह शरीर पर भिक्षु के पीत-चीवर धारण किये हैं। जीवा का प्रवेश। अब वह वृद्ध हो गयी है और भिक्षुणी के वेष में है।]

जीवा : कुमारजीव, अब तो तुम महायान दर्शन के लगभग सौ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कर चुके होगे? (**कुमार-**

जीव के निकट बैठती है।)

कुमारजीव : नहीं, माता जी, अभी सौ में थोड़ी कसर है।

जीवा : तुम्हारे पिता भी चीन आ रहे हैं !

कुमारजीव : हाँ, माता जी, मैं आपको सूचना देने ही वाला था कि वे आज ही पहुँचने वाले हैं।

जीवा : कितना...कितना हर्ष है मुझे सद्धम्म के संसार में और उसमें चीन के सदृश विशाल देश में तुम्हारा यह स्थान देखकर। देश-देशान्तरों और इस विशाल भूभि के भिन्न-भिन्न भूखण्डों में कितना विशाल समुदाय है तुम्हारे शिष्यों का। कितने ... कितने जन आते हैं तुम्हारे इस संघाराम में और कैसी शान्ति पाते हैं यहाँ आकर। तुम्हारे पिता को कितना आत्म-संतोष होगा यह सब देखकर !

कुमारजीव : परन्तु, माता जी, इस सबका यथार्थ श्रेय किसे है ? आपने किस प्रकार मुझे शिक्षित कराया, कश्मीर तक ले जा कर मुझे शिक्षा दिलायी और भिक्षुणी होने पर भी जब तक मेरी शिक्षा पूर्ण न हो गयी तब तक एक प्रकार से मुझे अपने अंक में ही रखा। यदि आप यह सब न करतीं तो क्या मेरे द्वारा संसार में सद्धम्म की यह सेवा संभव थी ?

जीवा : मुझे इस बात का गर्व है, बेटा, कि तुम्हारे पिता को मैंने भिक्षु से गृहस्थ बना तुम्हारे सदृश संतान की उत्पत्ति करायी। मैं अभी भी यही मानती हूँ कि जीवन में सारे आश्रम समय-समय पर ही उपयुक्त होते हैं। इसलिए जानते हो एक कसक मेरे मन में अभी भी सदा बनी रहती है।

कुमारजीव : (मुस्कराकर) कि पिताजी की सदृश मेरा विवाह न हुआ, मेरे द्वारा आप पिता जी को जो परम्परा प्रतिष्ठित रख सकीं वह आगे...आगे...

जीवा : हाँ, वह आगे विलुप्त हो जायगी।

कुमारजीव : परन्तु, माताजी; पिताजी को तो आप सदृश पत्नी प्राप्त हो गयी थीं। क्या सब इस प्रकार सौभाग्यशाली हो सकते हैं ?

[फाहियान का प्रवेश। फाहियान एक सुन्दर तरुण चीनी भिक्षु है। वह अपने साथ यात्रा का कुछ सामान लिये हुए है।]

कुमारजीव : (फाहियान को देखकर) अच्छा तुम तो भारत-यात्रा के लिए तैयार होकर आये हो।

फाहियान : हाँ, आर्य, आप कहा करते है न, 'शुभस्य शीघ्रम्'।

कुमारजीव : बड़े हर्ष, बड़े उत्साह से मैं तुम्हें भारत भेज रहा हूँ, फाहियान। चीनी और भारतीयों का यह आवागमन दोनों विशाल देशों के संबंध को दृढ़ से दृढ़तर करता जायगा।

फाहियान : हाँ, गुरुदेव, भारतीयों का तो चीन आना बहुत पहले आरम्भ हो गया था। अब चीन-निवासियों को भी उस पुण्यभूमि में अधिकाधिक जाना चाहिए जहाँ भगवान् ने बुद्ध शरीर धारण किया था।

कुमारजीव : वहाँ तुम सद्धम्म सम्बन्धी अध्ययन तो करोगे ही इसी के साथ वहाँ के जीवन का भी अध्ययन उसे भी समझना, क्योंकि बिना इसके एक देश; दूसरे के समीप नहीं आ सकता।

फाहियान : आपकी हर आज्ञा का पालन होगा !

जीवा : और, देखो, फाहियान, अपनी भारत-यात्रा का वृत्त ब्योरेवार लिखकर लाना।

फाहियान : अवश्य लाऊँगा, माताजी।

कुमारजीव : मेरी यही आकांक्षा है, कि तुम्हारे भारत से लौटने तक मैं जीवित रहूँ और तुम्हारी यात्रा का वृत्त पढ़ सकूँ।

फाहियान : यह आप क्या कहते हैं, आर्य, आपकी शत वर्ष की आयु हो, हम आपके शिष्य तो भगवान् तथागत से सदा यही प्रार्थना किया करते हैं।

[नेपथ्य में हर्षोल्लास का कोलाहल सुनायी देता है। कुमारजीव, जीवा और फाहियान का ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।]

कुमारजीव : (उठते हुए) जान पड़ता है कि पिता जी आगये। उन्हीं के स्वागत का यह हर्षोल्लास हो रहा है ।

जीवा : (खड़े होते हुए) कितने...कितने वर्षों के पश्चात् उनके दर्शन होंगे ?

[कुमारजीव, जीवा और फाहियान आगे बढ़ते हैं। कुमारायन का अनेक चीनी बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के साथ प्रवेश। कुमारायन अब वृद्ध हो गया है। वह भिक्षु वेष में है। जीवा को देख कुमारायन निमिष मात्र के लिए ठिठक-सा जाता है। कुमारायन को देख जीवा के नेत्रों में आँसू छलछला आते हैं।]

जीवा : (आगे बढ़कर कुमारायन से) देखते हैं आप यह कुमार-

जीव कितना बड़ा हो गया है !

[**कुमारजीव आगे बढ़ कुमारायन के चरण-स्पर्श करता है कुमारायन उसे हृदय से लगा लेता है ।**]

फाहियान : माताजी ने कहा कुमारजीव कितने बड़े हो गये हैं। मैं उस वाक्य में यह और जोड़ देता हूँ कि बड़े होने के साथ ही उन्होंने हमारे चीन देश में सद्धम्म का इतना बड़ा कार्य किया है जितना इसके पूर्व कोई न कर सका था।

कुछ भिक्षु-भिक्षुणियाँ : (एक साथ) अवश्य, अवश्य।

भिक्षु समुदाय : (एक साथ) भगवान् बुद्ध की जय ! भिक्षु कुमारायन की जय ! भिक्षुणी जीवा की जय ! भिक्षु कुमारजीव की जय !

कुमारजीव : सान्ध्य-प्रार्थना का समय हो गया, अब पहले प्रार्थना होकर, पश्चात् वार्तालाप होगा ।

[**सब लोग बैठ जाते हैं और सान्ध्य-प्रार्थना होती है।**]

जय प्रबुद्ध ! जय जय अमिताभ !
तव निर्देशित पथ ही है, प्रभु, जीवन का चिर लाभ।
सन्ध्या की आभा रङ्गीन
चमक गगन में होती लीन,
मधुर मनुज-जीवन जगती का पल में प्रलयाधीन।
अजर अमर प्रभु तव सन्देश
त्रिविध ताप करता निःशेष
सतत शान्ति सागर में निश्चल चञ्चल माया मीन।

ऊर्मिल भावों का अवसान,
आत्मेक्षणरत जाग्रत ज्ञान,
आशा तृष्णा के युग प्रहरी करते बन्धन क्षीण।

यवनिका

समाप्त